एक लघु परिचय

ऋग्वेदीय त्रिकाल संध्याविधि एवं विवरण सहित

ॐ भूर्भुवःस्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गों देवस्यधीमहि। धियोयोनःप्रचोदयात् ॥

ॐ

दत्तराज देशपांडे

गायत्री मंत्र

एक लघुपरिचय

ऋग्वेदीय त्रिकालसंध्याविधि और विवरण सहित

दत्तराज देशपांडे

श्रुतिधर्म प्रबोधिनी ग्रंथमाला - पुष्प - १

दत्त प्रकाशन

मुळमुत्तल, जिला: धारवाड, कर्नाटक - ५८१२०६

GAYATRI MANTRA, an introduction of Gayatrimantra in Hindi by Dattaraj Deshpande. Published by Datta Prakashana, Mulamuttala, Karnataka - 581-206. Phone : +919900292825. E-mail : dattaprakashana@gmail.com

Pages : 176

Frist edition : August 2007

Typeset & DTP : Dattaraj Deshpande

Cover page : Kiran Chauhan

Copies : 1000

Price : Rs.100/- U.S. $ 10

Copies can be had from : Seeta laxmi Deshpande
Banglore - 560-075
Cell: 9900292825

Printed at : Sriramana Process, Secunderabad. AP

श्री माणिक प्रभु संस्थान

माणिकनगर, जिला. बीदर, कर्नाटक-५८५३५३

Phone:08483-270042, www.manikprabhu.org

ज्ञानराज माणिक प्रभु दिनांक -२७/०८/२००७

आमुख

'गायन्तं त्रायसे यस्मात् गायत्री त्वं ततः स्मृता।' जिसके गायन से त्राण प्राप्त होता है, उसे गायत्री कहते हैं। भारतीय अध्यात्मविद्या का मूलमंत्र गायत्री है। गायत्रीमंत्र ऋग्, यजु, साम एवं अथर्व इन चारों वेदों में पाया जाता है। किंबहुना वेदविद्या का प्रारंभ ही गायत्री के उपदेश के साथ होता है। सहस्रों वर्षों से गायत्री की अविच्छिन्न परंपरा चली आ रही है। बटु को उसके पिता द्वारा, पिता को पितामह द्वारा, पितामह को प्रपितामह द्वारा एवं प्रपितामह को वृद्धप्रपितामह द्वारा गायत्री की दीक्षा प्राप्त होती चली आ रही है। इसी क्रम से पीछे पीछे जाने पर हम पाते हैं कि यह परंपरा साक्षात् विश्वामित्र ऋषि तक जा पहुंचती है। गायत्री की अविच्छिन्न परंपरा में ही उसका अमोघ बल सन्निहित है। गायत्री के अतिरिक्त जितने भी मंत्र हैं, उनका विनियोग ऐहिक उत्कर्ष एवं पारलौकिक निःश्रेयस् की प्राप्ति के लिए किया जाता है। यथा मृत्युंजय मंत्र का विनियोग अपमृत्यु निवारण के लिए होता है, लक्ष्मी मंत्र का विनियोग लक्ष्मीप्राप्ति के लिए होता है, प्रत्यंगिरा मंत्र का विनियोग शत्रुपराजय के लिए होता है, शिवपंचाक्षर मंत्र का विनियोग मोक्षप्राप्ति के लिए होता है, किंतु गायत्री का विनियोग ऐसे किसी लाभ के लिए नहीं है। **'ममोपात्त दुरितक्षयद्वारा श्रीपरमेश्वर प्रीत्यर्थं प्रातः संध्यामुपासिष्ये।'** इस संकल्प के अंतर्गत गायत्री की उपासना की जाती है। जन्मजन्मांतर से संचित पापों के क्षालन के लिए तथा परमेश्वर की प्रसन्नता के लिए गायत्री का विनियोग है। इस उपासना के करने से कोई नया लाभ नहीं होता, किंतु इस उपासना के न करने से प्रत्यवाय अवश्य प्राप्त होता है। अस्तु नित्य नियमितरूप से गायत्री की उपासना अवश्य करनी चाहिए।

श्री माणिकप्रभु वेदपाठशाला के ऋग्वेद अध्यापक श्री दत्तराज देशपांडे ने 'गायत्री मंत्र : एक लघु परिचय' नामक ग्रंथ लिखकर न केवल स्वयं गायत्री की वाङ्मयी उपासना की है, अपितु अन्यों को भी गायत्री की उपासना की ओर प्रेरित किया है, यह मेरे लिए अत्यंत प्रसन्नता एवं नितांत अभिमान का विषय है। प्रस्तुत

ग्रंथ में श्री दत्तराज ने गायत्री उपासना के सभी पहलुओं का सांगोपांग विचार किया है। सनातन हिंदू धर्म के परिचय से प्रारंभ कर लेखक ने श्रुति-स्मृति ग्रंथों के संक्षिप्त परिचय की आधारशिला पर गायत्रीमाता के वाङ्मयीन देवालय की नींव रखी है। श्री दत्तराज ने इस छोटे से ग्रंथ में गायत्री का अर्थ, गायत्री का स्वरूप, गायत्री की महिमा एवं गायत्री की उपासना का विशद् विवेचन किया है। गायत्री उपासना से संबंधित श्रुति एवं स्मृति ग्रंथों के आधारभूत उद्धरणों को एकत्रित करने के लिए श्री दत्तराज ने जो परिश्रम किया है, उसे देखकर उनके अभ्यास एवं अध्यवसाय का परिचय प्राप्त होता है। अपने प्रत्येक मत को उन्होंने श्रुति एवं स्मृति ग्रंथों के प्रमाणवचनों से दृढ़ किया है। इस ग्रंथ को पूर्ण करने के लिए श्री दत्तराज ने जो परिश्रम किया है, उसे देखकर यही लगता है कि **'स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्'** इस वैदिक अनुशासन का उन्होंने अक्षरश: पालन किया है। पाठशाला में विद्यार्थियों को ऋग्वेद पढ़ाने के साथ साथ उन्होंने अपने स्वयं के **'स्वाध्याय'** की कभी उपेक्षा नहीं की, उसी स्वाध्याय के फलस्वरूप आज यह ग्रंथ प्रकाश में आया है।

श्री दत्तराज की विशेषता यह है कि वे किसी भी बात को तुरंत समझ जाते हैं तथा किसी भी विद्या को तुरंत सीख लेते हैं। हमेशा कुछ नया सीखने का उत्साह उनके अंदर मचलता रहता है। ऋग्वेद अध्यापक के रूप में जब वे माणिकगर आए तब उन्हें कंप्यूटर चलाने का किंचित् भी ज्ञान नहीं था। यहाँ के वातावरण में वे शीघ्र घुलमिल गए और उन्होंने कंप्यूटर चलाना तथा देवनागरी में टाईप करना थोड़े ही समय में सीख लिया। इस पुस्तक की पांडुलिपि को उन्होंने स्वयं टाईप किया है। यह कोई साधारण उपलब्धि नहीं है। कन्नड़भाषी होते हुए भी माणिकनगर के वातावरण ने उन्हें अपनी हिंदी को परिमार्जित करने का अवसर दिया, फलस्वरूप उन्होंने यह ग्रंथ हिंदी में लिखा। यदि वे इस ग्रंथ को कन्नड़ में लिखते तो निश्चय ही इससे बहुत अधिक अच्छा लिख सकते थे, किंतु नये नये प्रयोग करना और उनमें पूर्ण सफलता पाना श्री दत्तराज के स्वभाव का अंग है। अहिंदीभाषी होते हुए भी हिंदी मे इस ग्रंथ की रचनाकर उन्होंने अपने राष्ट्रीय स्वाभिमान का परिचय दिया है, जिसके लिए वे अभिनंदन के पात्र हैं। श्री दत्तराज के इस प्रयास का अभिनंदन करने के लिए जब मैं शब्द खोजता हूँ तब मुझे तैत्तिरीय श्रुति के **'साधुयुवा अध्यायक:'** यह शब्द अनायास सूझते हैं और मुझे पूर्ण विश्वास है कि प्रभु महाराज की कृपा एवं स्वपरिश्रम के बल पर इसी श्रुति में आगे कहे गए विशेषण **'आशिष्ठ: द्रढिष्ठ: बलिष्ठ:'** भी उन पर शीघ्र ही अवश्य लागू होंगे। श्री दत्तराज जैसा मेधावी एवं प्रतिभासंपन्न अध्यापक श्रीप्रभु की ऋग्वेदसेवा कर रहा है यह श्री माणिकप्रभु संस्थान के लिए गौरव का विषय है।

इस सेवा का प्रतिफल प्रभु श्री दत्तराज को अवश्य देंगें, तथापि हम सब को इस बात का सानंद अभिमान है कि आज इस पुस्तक के प्रकाशन के साथ श्री दत्तराज का परिश्रम सार्थक हुआ। भविष्य में इससे भी उत्कृष्ट वाङ्मयीसेवा प्रभु उनसे लें, इस मंगलकामना के साथ ....

सचिव-श्री माणिकप्रभु संस्थान

मेरे गुरुवर्य वे.ब्र.श्री एम्. विश्वनाथ शंकरभट्ट
जो मेरे विद्यार्थी-जीवन में आश्रय,
अन्न एवं विद्या के दाता रहे हैं,
उन के चरणों में यह ग्रंथरूपी पुष्प समर्पित है।

- दत्तराज देशपांडे

परिचय
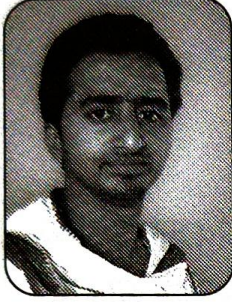
दत्तराज देशपांडे
श्री माणिकप्रभु वेद एवं संस्कृत पाठशाला
माणिकनगर, जिला-बीदर कर्नाटक - ५८५-३५३
Phone +919900292825
E-mail : dattaraj85@gmail.com

श्रीमती एवं श्री अशोकराव दशपांडे के ज्येष्ठपुत्र के रूप में कर्नाटक के मुळमुत्तल ग्राम में १३-०६-१९८५ के दिन दत्तराज देशपांडे का जन्म हुआ। अपने आठ वर्ष की आयु में आधुनिक शिक्षा को दूसरी कक्षा में ही छोडकर गुरुकुल में मौखिक-अध्ययन की परंपरा के अनुसार अपनी स्वशाखा 'ऋग्वेद' के अध्ययन को प्रारंभ किया। १९९३ से २००४ तक के ग्यारह वर्षों के गुरुकुलवास की अवधि में पद-पाठ एवं क्रम-पाठ से युक्त संपूर्ण ऋग्वेद, आश्वलायन प्रयोगविधान, शौनकोक्त ऋग्विधान और संस्कृत साहित्य के अध्ययन को संपन्नकर संप्रति श्री माणिक प्रभु संस्थान के अंगभूत वेदपाठशाला में 'ऋग्वेद अध्यापक' के रूप में कार्यरत हैं। अपने वेदाध्ययन के दौरान केरल, तमिलनाडु, आंध्रप्रदेश और कर्नाटक इत्यादि राज्यों के अनेक प्रांतों में पर्यटन करने के कारण इन्हें विविध संप्रदायों का परिचय है। संस्कृत, कन्नड, तेलुगु, तमिल, मलयाळम्, हिंदी, मराठी एवं अंग्रेजी - इन आठ भाषाओं में इन्हे प्रवेश है और अपनी मातृभाषा(कन्नड) के माध्यम से कविता एवं कथा-साहित्य की रचना करना इन का छंद है।

प्रकाशक

निवेदन

हमारे कुटुंब के पूर्वजों द्वारा मुळमुत्तल ग्राम में निर्मित श्री दत्तपादुका मंदिर का जीर्णोद्धार एवं नित्यपूजा की व्यवस्था हेतु स्थापित इस 'दत्त सेवा प्रतिष्ठान' नामक संस्था ने आज इस पुस्तक के प्रकाशन के द्वारा 'दत्त प्रकाशन' नामक एक नूतन अंगसंस्था को जन्म दिया है, जिस का प्रयोजन वैदिक साहित्य का प्रचार-प्रसार है। यह नूतन संस्था ग्रन्थप्रकाशन के अलावा निकट भविष्य में ही एक वैदिक गुरुकुल की स्थापना करने की दिशा में भी कार्यरत है, जिस में वेद एवं वेदांगों का बोधन नि:शुल्करूप से होगा। हम परमात्मा से यह प्रार्थना करते हैं कि, 'श्रुतिधर्मप्रबोधिनी ग्रंथमाला' का यह पहला पुष्प 'गायत्री मन्त्र' नामक पुस्तक जनसामान्य द्वारा सकारात्मक रूप से स्वीकृत हो, जिस से हमें इस पुस्तक के कन्नड, तेलुगु इत्यादि भाषाओं के अनुवाद और इस ग्रंथमाला के द्वारा अन्य वैदिक ग्रन्थों के प्रकाशन हेतु उत्तेजन प्राप्त हो सके।

भवदीय

कार्यदर्शी

दत्तप्रकाशन-मुळमुत्तल

हमारे आगामी प्रकाशन

पुस्तक का नाम	संपादक/लेखक
• गायत्री विज्ञान सर्वस्व(हिन्दी)	दत्तराज देशपांडे
• प्रार्थना कुसुम (नित्य पठनीय स्तोत्रसंग्रह)	सीतालक्ष्मी देशपांडे
• पंचसूक्त पवमान (होम विधि सहित)	दत्तराज देशपांडे
• देवर नेनेयोण(कन्नड भजन संग्रह)	अन्नपूर्णा हेगडे
• भाषा के बारे में आप क्या जानते हैं?(हिन्दी)	दत्तराज देशपांडे
• धर्मोरक्षरिक्षित: धर्म की एक व्याख्या (हिन्दी, कन्नड, तेलुगु)	दत्तराज देशपांडे
• देवुडु एक्कडुन्नाडु ओक चर्च (तेलुगु)	दत्तराज देशपांडे
• भाव बिन्दु (कन्नड कविताएँ)	के. हरीश राव
• मंजु करगितु (कन्नड कविताएँ)	दत्तराज देशपांडे
• इदो नोडि (कन्नड कथाएँ)	दत्तराज देशपांडे

उपर्युक्त सभी पुस्तकें दत्त प्रकाशन द्वारा शीघ्र ही प्रकाशित होंगी।

प्राक्कथन

एक मूर्ख था और उस ने एक दिन समुद्र की ओर दौडते हुए जाकर समुद्र को देखा। उस समुद्र के जल के दो-चार बूंदों को अपनीजीभ पर डालकर उस जल की रुचि को जाना और कहने लगा कि, मुझे समुद्र के विषय में संपूर्ण ज्ञान है। मुझे लगता है कि, उपर्युक्त कथा के अंतर्गत मूर्ख के व्यक्तित्व में और मुझ में समानता है। क्यों कि, जिस वयो-मान में गायत्रीमंत्र जैसे विषय को संपूर्णतया जानना ही असंभव हो, उस वयो-मान में मैं अन्यों को गायत्री के विषय में कुछ कहने के मूर्खत्वपूरित कार्य को करने के लिये उद्युक्त हूँ।

अपनी विद्यार्थिदशा में मै अपने पठ्य (वेदमंत्रों का कण्ठस्थीकरण) के अलावा अन्य अनेक विषयों के प्रति भी आसक्त था, जैसे कन्नड साहित्य, काव्यरचना, मनोविज्ञान, इतिहास, सिनेमा-इत्यादि, जिस के कारण मुझे विभिन्न विषयोंपर आधारित अनेक ग्रंथों का अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ। श्री देवुडु नरसिंहशास्त्री द्वारा कन्नड भाषा में विरचित 'महा ब्राह्मण' नामक पौराणिक कादंबरी का वाचन करनेपर मेरे मन में 'गायत्री' के विषय में कुतूहल उत्पन्न हुआ था, जिस के कारण मैं गायत्री से सम्बंधित विषय-संग्रह करने लगा था। उन्ही दिनों में मेरे कुछ मित्र और हमारी पाठशाला के छात्रों द्वारा मुझ से की गई गायत्री विषयक जिज्ञासू प्रश्नों के कारण मेरे मन में यह विचार आया कि, न केवल हमारी पाठशाला के वैदिक छात्र, अपितु भूतपूर्व छात्र एवं माणिकनगर के आस-पास के प्रांतों के पुरोहित-गण और लौकिक मार्गावलंबी मेरे मित्रगण- इन सब के लिये गायत्रीमंत्र के विषय में 'प्रारंभिक जानकारी' से युक्त एक लघु-पुस्तिका को सिद्ध किया जाए। परंतु मैंने जिन के हेतु यह पुस्तक सिद्ध करने का विचार किया था, उन में अधिकांश लोगों को हिंदी या मराठी भाषा का ज्ञान हैं। परंतु मुझे हिंदी और मराठी भाषाओं का प्रारंभिक ज्ञान भी नहीं था। परंतु सौभाग्य की बात यह है कि, उन्ही दिनों में श्री माणिकप्रभु संस्थान की मासिक पत्रिका 'माणिकरत्न' को प्रतिमाह अनुवादित कर तेलुगु भाषा के संस्करण को सिद्ध करने की प्रभुसेवा-का अवसर मुझे प्राप्त हुआ। 'माणिकरत्न'

के अंतर्गत हिंदी एवं मराठी भाषा के लेखों के अर्थ को जानकर अनुवाद करने की अनिवार्यता के कारण मुझे उन लेखों को ध्यान से पढकर अर्थ को जानकर अनुवाद करना पड़ा, जिस से मुझे हिंदी, मराठी भाषाएँ एवं श्री मार्तण्ड माणिकप्रभु महाराज के वेदांत-साहित्य का अनायास परिचय हुआ। इस प्रकार प्राप्त हिंदी के प्रारंभिक ज्ञान की सहायता से मैं हिंदी दैनिक समाचार-पत्रों का वाचन करने लगा, जिस से प्राप्त अशिक्षित हिंदी ज्ञान के बलपर ही मैं ने इस पुस्तक का संपादन किया है। इस बात को अनावश्यक स्पष्टता के साथ इसलिये कह रहा हूँ कि, पुस्तक का वाचन प्रारंभ करने से पूर्व ही वाचकों को यह बात स्पष्टतया ज्ञात हो कि, किसी भी भाषा का नियमबद्ध (Academic) अध्ययन मैने नहीं की है, जो एक पुस्तक-संपादन के लिये अत्यावश्यक है। इस पुस्तक में जो भी गलतियाँ है, उन का कारण केवल मेरा अज्ञान और अशिक्षितता ही है।

इस पुस्तक में गायत्री मंत्रोपासना केवल ब्राह्मणों को ही विहित है, स्त्रियों को निषेध है- इत्यादि विषयों का प्रतिपादन श्रुति-स्मृति ग्रंथों के आधारपर है। परंतु जिन्हें उन ग्रंथों का परिचय ही न हो, उन ग्रंथों के महत्व का ज्ञान ही न हो, उन्हे वह प्रतिपादन निरर्थक लगेगा। इसलिये पुस्तक के आरंभ में ही भारतीय हिंदू सनातन धर्म और श्रुति-स्मृतियों के संक्षिप्त परिचय को जोडा गया है, जो इस पुस्तक के मूल विषय की उपयुक्त भूमिका बनी है। वास्तव में श्रुति-स्मृति ग्रंथों का परिचय ही एक बडा ग्रंथ बनने योग्य विषय है। क्यों कि, वह उतनी विशाल ग्रंथराशी है। तथापि मैं ने दो-चार शब्दों के माध्यम से उस ग्रंथराशि का परिचय कराने का प्रयास किया है। गायत्री से संबंधित विषयों के अलावा शिखाधारण, आहार-शुद्धता, संस्कार और संस्कृति- इत्यादि विषयों को भी जोडा गया है, जो इस पुस्तक के मुख्य विषय से अन्यान्य प्रकारों से संबंध रखते हैं।
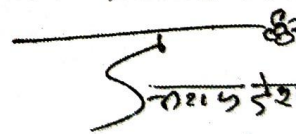
इस पुस्तक को वैदिक छात्रों को लिये उपयुक्त बनाने के आशय से परिशिष्ट में ऋग्वेदीय सस्वर संध्यावन्दन की विधि को भी जोडा गया है, जो शुद्ध एवं प्रमाणयुक्त है। यह पुस्तक गायत्री मंत्र के विषय में संपूर्ण ज्ञान प्रदान नहीं करता है, अपितु वाचकों को गायत्रीमंत्र का

परिचय कराता है और कुछ प्रश्नों को सामने रखता है, जिन का उत्तर ज्ञानीजन द्वारा जन-सामान्यों को देना है। इस पुस्तक के वाचन के पश्चात् वाचक के मन में गायत्री के विषय में अधिक जानने की इच्छा और उपासना करने की इच्छा जागृत हुई तो मै मानता हूँ कि, मेरा प्रयत्न सफल हुआ।

इस प्राक्कथन के प्रारंभ में औपचारिकता के कारण मैं ने यह लिखा है कि, मेरे मित्रों के लिए और छात्रों के लिए यह पुस्तक सिद्ध किया है, परंतु मेरे'आत्मसाक्षी' को इस बात का ज्ञान है कि, किसी न किसी प्रकार से अनेकों से परिचित होने की मेरी अदम्य अभिलाषा (identity crisis) ने ही मुझ से यह कार्य करवाया है। लेखन-कार्य संपन्न होने के पश्चात् अन्यान्य कारणों से हुए विलंब के बाद ही सही, अंततः इस पुस्तक को प्रकाशित होते हुए देखकर मैं अत्यंत आनंदित हूँ।

श्री माणिकप्रभु संस्थान के सचिव श्री ज्ञानराज महोदय ने हस्तप्रति को अवलोकितकर अपने आशीर्वाद पूर्वक आमुख से इस पुस्तक को अलंकृत किया है। उन्हे मेरे कृतज्ञापूर्वक प्रणाम समर्पित हैं। जिन की प्रेरणा और सहायता से इस कृति को प्रस्तुत विग्रह तक ला पाया हूँ, उन सभी मित्रों के प्रति कृतज्ञता पूर्वक नमित हूँ।

इति विद्वज्जन विधेय

दत्तराज देशपाण्डे

२८-०८-२००७

माणिकनगर

ॐ भूर्भुवः स्वः।
तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

जो सविता हमारे बुद्धि को 'तत्' यानी 'उस'
(परमात्मा) के प्रति प्रेरित करता है, उस श्रेष्ठ 'भर्ग'
नामक तेज की हम उपासना करते हैं।

We medicate on the excellent slendour
(भर्ग) of the divine,
Savitr, who is supremly desirable (वरेण्य)
and is that one (तत्)
May he activate our thoughts towards
wisdom.

॥ निर्विघ्नकर्ता श्री गणेश ॥

गजवदनमचिन्त्यं तीक्ष्णदंष्ट्रं त्रिनेत्रम् ।
बृहदुदरमशेषं भूतिरूपं पुराणम् ॥
अमरवरसुपूज्यं रक्तवर्णं सुरेशम् ।
पशुपतिसुतमीशं विघ्नराजं नमामि ॥

॥ देवी गायत्री ॥

मुक्ताविद्रुम हेम नील धवलच्छायैर्मुखैस्त्रीक्षणैः।
युक्तामिन्दु निबद्धरत्नमुकुटां तत्वार्थ वर्णात्मिकाम् ॥
गायत्रीं वरदाभयाङ्कुशकशाः शुभ्रं कपालं गदाम् ।
शंखं चक्रमथारविन्दयुगलं हस्तैर्वहन्तीं भजे ॥

॥ देवी सरस्वती ॥

शुक्लां ब्रह्मविचारसारपरमामाद्यां जगद्व्यापिनीम् ।
वीणापुस्तकधारिणीमभयदां जाड्यान्धकारापहाम् ॥
हस्तेस्फाटिकमालिकां विदधतीं पद्मासने संस्थिताम् ।
वन्दे तां परमेश्वरीं भगवतीं बुद्धिप्रदां शारदाम् ॥
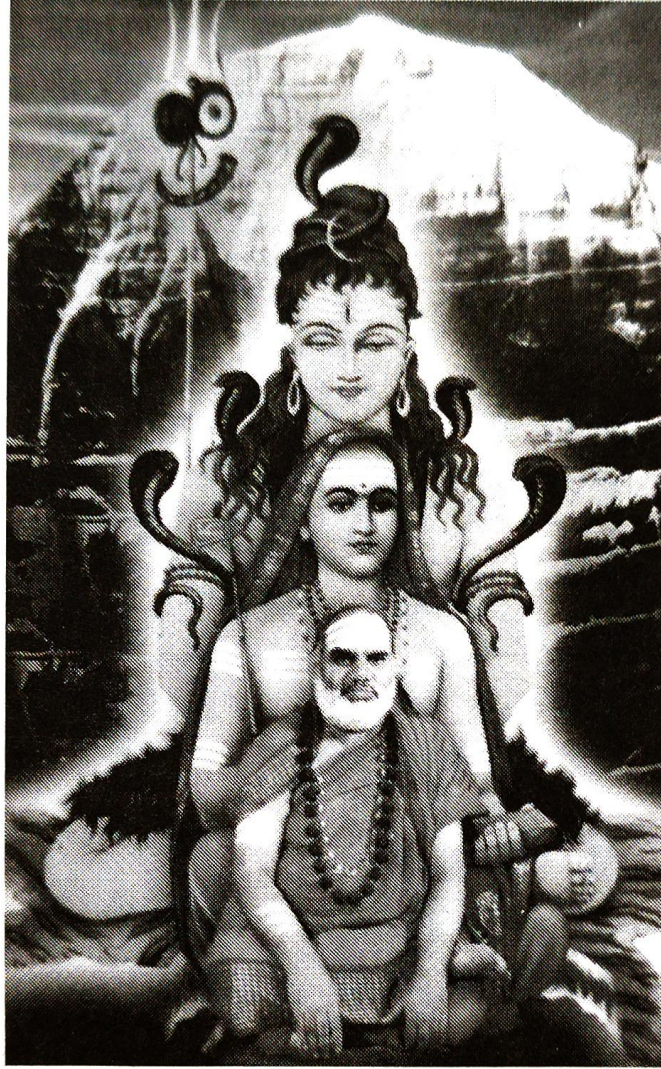
॥ गुरुपरंपरा॥

सदाशिवसमारम्भां शङ्कराचार्यमध्यमाम् ।
अस्मदाचार्यपर्यन्तां वन्दे गुरुपरम्पराम् ॥

॥ शंकर भगवत्पादाचार्य - महर्षि वेदव्यास॥

शङ्करं शङ्कराचार्यं केशवं बादरायणम् ।
सूत्र-भाष्यकृतौ वन्दे भगवन्तौ पुन:पुन:॥

(भगवान् विष्णुस्वरूपी वेदव्यास एवं भगवान् शंकर के स्वरूपी शंकराचार्य, जो क्रमश: ब्रह्मसूत्र के रचयिता और उन ब्रह्मसूत्रों के भाष्य के रचयिता हैं, उन दोंनों महामहिमों को वारं-वार नमन करता हूँ।)
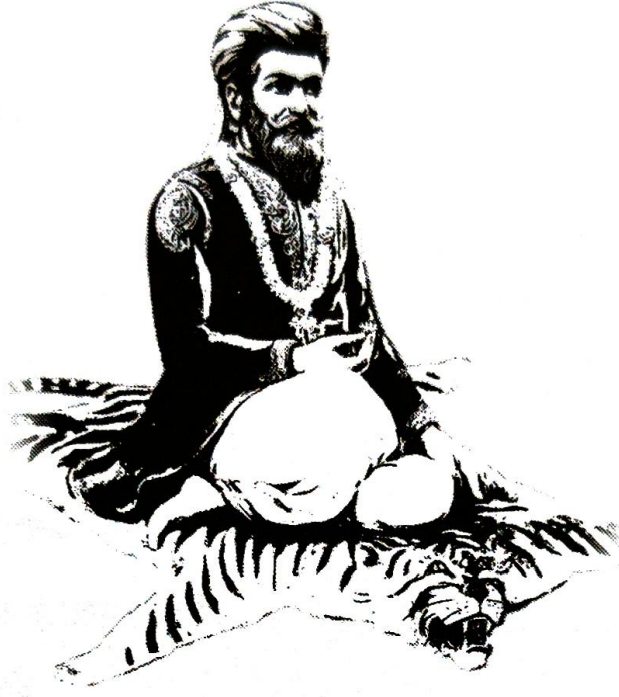
॥ सद्गुरु श्री माणिकप्रभु महाराज ॥

वन्दे दत्तावधूतं विधिहरिशिवरूपात्मकं देशिकाद्यम् ।
श्रीपादश्रीदवाक्यं श्रितविपदपहं चिद्घनैकं द्वितीयम् ।
तार्तीयं नृसिंहं यतिकुलतिलकंभक्तकार्यामरद्रुमम् ।
वन्दे माणिक्यप्रभुं तं सकलमतगुरुं शुद्धसत्वं चतुर्थम् ॥

अनुक्रमणिका

।। अथ मंगलाचरणम् ।।

शारदां गणपतिं दुर्गां भक्तमानसहंसिनीम्।
सद्गुरुं माणिकेशं च भक्त्या वन्दे विभूतये ।।

बुद्धिप्रदात्री शारदा, विघ्नविनाशक गणेश, भक्तजन-मानस में हंस के रूप में रमनेवाली दुर्गा तथा श्री सद्गुरु माणिकप्रभु को अपने (इस पुस्तक के संपादन कार्य में) श्रेय के लिये भक्तिपूर्वक नमन करता हूँ।

मंगलाचरण के नियम के अनुसार विनायक आदि इष्टदेवताओं के नमन के पश्चात् 'गुरु' शब्द पर किंचित् चिंतन करेंगे। संस्कृत भाषा में 'गुरु' शब्द का अर्थ 'बडा' अथवा 'ज्येष्ठ' है। हमें विद्यालय में विद्या-प्रदान करनेवाले अध्यापक वयोमान में हम से बडे होने कारण उन्हे 'गुरु' कहा जाता है। 'लघु' शब्द के विपरीत अर्थ के रूप में 'गुरु' शब्द का उपयोग होता है। सृष्टि, स्थिति और लय के कारक तथा पंचमहाभूतों को अंतर-बाह्य से व्याप्त परब्रह्मचैतन्य अर्थात् परमात्मा से कोई बडी वस्तु नहीं होने के कारण उस परमात्मा को ही 'गुरु' कहा जाता है। जो अविनाशी अर्थात् आदि-अंत रहित है, उसे 'सत्' कहते हैं। सत् + गुरु = सद्गुरु। अविनाशी, सर्वशक्त और सब से बडी वस्तु होने के कारण परब्रह्म को ही 'सद्गुरु' कहते हैं। उस परब्रह्मस्वरूपी श्रीमाणिकप्रभु महाराज की ही मैं ने उपर्युक्त मंगलाचरण के श्लोक में स्तुति किया है। 'गुरु' शब्द से अन्य अनेक अर्थ भी निष्पन्न होते हैं।

गुकारस्त्वन्धकारो हि रुकारस्तन्निरोधकः।
अन्धकार-विनाशित्वात् गुरुरित्यभिधीयते ।।

स्कंदपुराण के अंतर्गत गुरुगीता में कहा गया है कि, 'गु' अक्षर अंधकार सूचक है तथा 'रु' अक्षर अंधकार निवारक प्रकाश है। वस्तुतः 'र' अक्षर तंत्रशास्त्र के अनुसार अग्निदेवता का बीजाक्षर अर्थात् परब्रह्म ज्योतिस्वरूपी अग्नि का प्रतीक है। अतः अंधकाररूपी अज्ञान को हटाकर अग्निरूपी अथवा प्रकाशरूपी ज्ञान को जो प्रदान करता है, उसे 'गुरु' कहते हैं। यहाँ पर 'ज्ञानप्रदान' यानी किसी प्रकार का विद्याबोधन न होकर सर्वथा ज्ञान यानी मुक्तिप्रदान ही है।

।। इति मंगलाचरणम् ।।

।। भारतीय हिन्दू सनातन धर्म ।।

प्रचलित एवं लुप्त सभी संप्रदायों में अत्यंत प्राचीन एवं अपने सत्वबल से ही आज पर्यंत पूर्णरूप से स्थित एकमात्र संप्रदाय भारतीय हिंदू संप्रदाय है।

हिन्दूधर्मप्रलोप्तारो जायन्ते चक्रवर्तिन: ।
हीनं च दूषयन्त्येव हिन्दुरित्युच्यते प्रिये ।।

मेरुतंत्र प्र-३३

इस श्लोक में कहा गया है कि, हीनों को (धर्माचरण विहीनों को) दूषित करनेवाला अर्थात् उन्हे सुधारने वाला 'हिन्दू' कहलाता है। देवगुरु बृहस्पति अपने आगम ग्रंथ में हिंदुस्थान की सीमाओं का निर्णय बता चुके हैं।

हिमालयं समारभ्य यावदिन्दुसरोवरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं हिन्दुस्थानं प्रचक्षते ।।

हिमालय प्रभृति इंदुसरोवर पर्यंत जो देवनिर्मित प्रदेश है, वह हिंदुस्थान कहलाता है। इस श्लोक के अंतर्गत 'हिमालय' शब्द से 'हि' और 'इन्दुसरोवर' इस संयुक्तशब्द के अंतर्गत 'इन्दु' - इन दोनों शब्दों के योग से (हि + इन्दु = हीन्दु) 'हीन्दु' शब्द उत्पन्न होता है। क्रमश: उच्चारण दोष के कारण 'ही' दीर्घ के स्थान पर 'हिन्दु' इस प्रकार ह्रस्व 'हि' से युक्त 'हिन्दु' शब्द प्रचलित में आया होगा । परंतु अन्य कुछ विद्वानों का यह मानना था कि, 'हिन्दु' शब्द 'हीन' के अर्थ में भारतीयों को निंदित करने के लिये यवनों के द्वारा नियुक्त है। अत: हम उस शब्द का उपयोग न करें। परंतु उन के नंतर के कुछ वैचारिकों ने यह सिद्ध किया कि, 'हिन्दु' शब्द में भारत के सभी (वैदिक तथा अवैदिक) संप्रदायों के अंतर्भाव हैं, और वह शब्द किसी के द्वारा नियुक्त नहीं है। वास्तव में 'हिन्दु' शब्द से भारतदेश का सही अर्थ ही निष्पन्न होता है, जैसे - ऋग्वेद के दशम मण्डल के ७५ वाँ सूक्त (नदीसूक्त) में कहागया है कि,

प्रसप्तसप्त त्रेधा हि चक्रमु:प्रसृत्वरीणामति सिन्धुरोजसा ।

ऋग्वेद १०-७५-०१

स्वर्ग, मर्त्य (भूमि) और पाताल- इन तीनों लोकों में सात-सात नदियाँ बहती हैं और उन में 'सिन्धु' सर्वश्रेष्ठ है, क्यों कि वह तेज और बडी है। 'सिन्धु' शब्द का अर्थ 'नदी' अथवा पानी का 'तेज प्रवाह' है। इस बात की पुष्टि हेतु वेद में भी आधार मिलता है।

तवेमे सप्तसिन्धव:प्रशिषं सोम सिस्रते । तुभ्यं धावन्ति धेनव: ।।

ऋग्वेद - ९- ६५ - ०६

हे इंद्र, आप ने जो सात नदियों (सप्तसिन्धुओं) को उत्पन्न किया है, वे आप की आज्ञा के अनुसार ही बहती हैं।

गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति ।
नर्मदे सिन्धो कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु ।।

इत्यादि मंत्रों के माध्यम से हम अपने देश के विस्तार को तथा देशवासियों की ऐक्यता को स्मरण करते आए हैं। इन नदि-तटों पर रहने के कारण भारतीयों को 'सप्तसिंधु' के नाम से भी संबोधित किया जाता था।

इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रिस्तोमं सचता परुष्ण्या ।
असिक्न्यामरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया ।।

ऋग्वेद - ८- ३ -६

उपर्युक्त मंत्र में गंगादि दस महा नदियों की स्तुति है। इस मंत्र का भाष्य रचते हुए भगवान् सायणाचार्य ने कहा है कि,

अत्र प्रधानभूता: सप्तनद्य: स्तूयन्ते । तदवयवभूताश्च तिस्र: ।

सायणाचार्य का कहना है कि, उन में से सात प्रमुख नदियाँ हैं। और बाकी के तीन उन की उपनदियाँ हैं।

सिन्धु:समुद्रे नद्यां च नदे ।
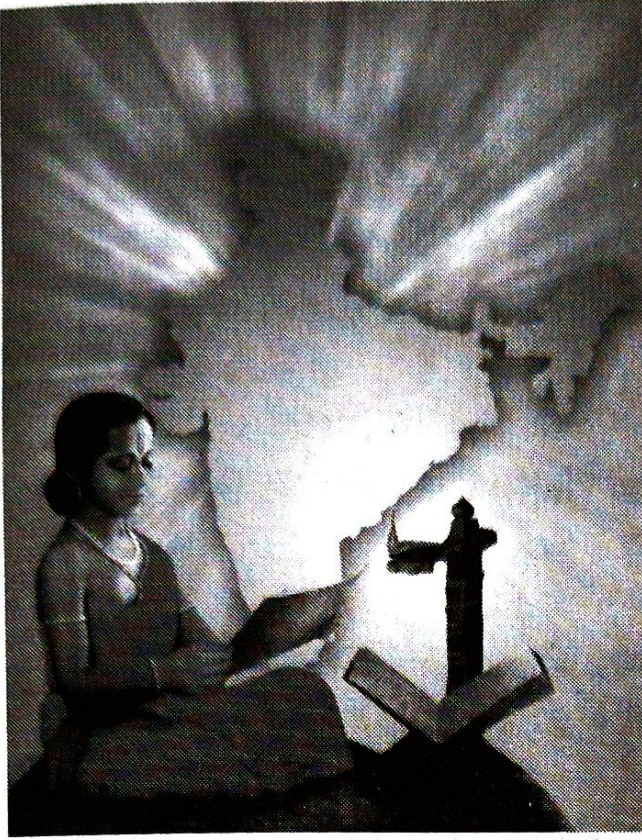
इस सूत्र के अनुसार 'सिन्धु' शब्द को १- नाला, २- नदी, ३- समुद्र - इन तीन अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। 'स्यन्दू प्रस्रवणे' धातु से यह शब्द निष्पन्न हुआ है। **स्यन्दते इति सिन्धुः**। हिंदी इत्यादि भारतीय प्रादेशिक भाषाओं में अनेक संस्कृत शब्दों का प्रयोग अपभ्रंश रूप से होता है। जैसे 'गर्दभ' का 'गधा', पितृगृह-पीहर, मास-माह आदि। इस प्रकार हिंदी भाषा में संस्कृत शब्दों का उपयोग करते समय 'स' अक्षर के स्थान पर 'ह' अक्षर का प्रयोग कुछ स्थानों पर होता है- जैसे, केसरी-केहरी आदि। जोधपूर के आस पास 'सारा' शब्द का प्रयोग 'हारा' के रूप में होता है। आधुनिक हिंदी में भी 'मास' को 'माह' ही कहा जाता है। संस्कृत में भी इस प्रकार के कई उदाहरण मिलते हैं। 'स' और 'ह' ये दोंनों महाप्राण से युक्त अक्षर होने के कारण 'स' के स्थान पर 'ह' का प्रयोग हुआ होगा। इस निम्न वैदिक उदाहरण को ही देखिये।

'श्री'श्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ

पुरुषसूक्त - शुक्लयजुर्वेद।

'ह्री'श्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ

पुरुषसूक्त - कृष्णयजुर्वेद।

इस प्रकार के उच्चारण-भेद के कारण 'सप्तसिन्धुदेश' - 'सप्तहिन्धुदेश' अथवा 'सप्तहिन्धुस्थान' बन गया। कालांतर में केवल 'हिन्धुस्थान' कहलाने लगा। 'हिन्धुस्थान' शब्द के अंतर्गत 'धु' और 'स्था' - ये दोनों महाप्राण लुप्त होकर आज अपभ्रंशरूप से **'हिन्दुस्तान'** कहला रहा है और उस में निवास करनेवाले 'हिंदु' कहलाने लगे हैं। सिंधुदेशवासियों की (संस्कृत के अलावा) प्रधान-भाषा को 'सिंधी'

भाषा कहा जाता था, जो आज 'हिंदी' भाषा कहला रही है। इस से यह सिद्ध होता है कि, गंगादि सात महानदियों के आश्रय में जो रहते हैं, वे सब 'हिंदू' है तथा उन के जो रहन-सहन, आचार-विचार हैं, वह हिंदू-संप्रदाय है।

।। भारत ।।

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः।।

दक्षिण समुद्र के उत्तर में तथा हिमालयपर्वत के दक्षिणभाग में अर्थात् कन्याकुमारी से हिमालय तक जो प्रदेश है, उसे भारतवर्ष और उस में रहनेवालों को भारतीय कहते हैं।

तत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने ।
यतो हि कर्मभूरेषा ततोऽन्या भोगभूमयः ।।
विष्णुपुराण २-३-२०

जंबूद्वीप में भारत श्रेष्ठ है, क्यों कि वह कर्मभूमि है। अर्थात् मोक्षमार्गपर जानेवालों को, सत्कर्म करनेवालों को अत्यंत उपयुक्त है। भारत के अलावा अन्य सभी केवल भोगभूमि हैं।

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारत भूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ।।
विष्णुपुराण १-३-२४

स्वयं इंद्रादि देवगण कीर्तित करते हैं कि, स्वर्ग और मोक्ष की आस्पदकारक भारत-भूमि पर रहनेवाले मानव धन्य हैं।

भासि वा भायां वा रतः भारतः ।

इस व्युत्पत्ति के अनुसार स्वयंप्रकाश आत्मरूप में जो आसक्त है, वह भारत है। 'भाः' का अर्थ होता है, ज्योति अथवा प्रकाश। उस ज्योति के कारक होने के कारण ही सूर्य को 'भास्कर' कहा जाता है। सर्वशक्त, स्वयंप्रकाश, सच्चिदानंद परमात्मा ज्योतिस्वरूपी (चिद्रूपी) है। उस ज्योति (भाः) को प्राप्त करने में जो नि'रत' है, वह 'भारत' है।

भारूपं परं ब्रह्म, तस्य स्वयंप्रकाशत्वात्,
तस्मिन् भारूपे ब्रह्मणि रत:, सक्त भारत: ।।

इस प्रकार भारत शब्द की अनेक महापुरुषों द्वारा अनेक व्याख्याएँ की गई हैं। परंतु उन सभी व्याख्याओं का भावार्थ एक ही है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि, ऋषभदेव का ज्येष्ठपुत्र महाज्ञानी 'भरत' के कारण यह देश भरतखण्ड के रूप में प्रसिद्ध हुआ । इस प्रकार 'भारत' के नाम के विषय में पुराण-इतिहासों में अन्य अनेक कथाएँ सामने आती हैं, जो अपने अलग - अलग पक्ष बताती हैं।

भरत: आदित्य: तस्य स्वभूता दीप्ति: भारती ।

यास्क ऋषि ने कहा है कि, सूर्य ही भरत है, और उस की दीप्ति अर्थात् प्रकाश ही भारती, यानी परमात्मा (गायत्री) है।

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।

ऋग्वेद - १-११५-१

इस वाक्य की भाष्यरचना करते समय सायणाचार्य ने कहा है कि,

सर्वस्य प्रेरक: परमात्मा जगतो जंगमस्य,
तस्थुष: स्थावरस्य च आत्मा स्वरूपभूत: ।

सूर्य मंडल के अंतर्गत सर्वप्रेरक परमात्मा ही इस चर-स्थिर (स्थावर-जंगम) विश्व का आत्मरूप है।

सयश्चायं पुरुषे । यश्चासावादित्ये । स एक: ।

भृगुवल्ली - यजुर्वेद ।

इस मानव देह में। (और)उस सूर्यमण्डल के भीतर। (जो है) वह एक ही है।

उपर्युक्त मंत्र से यह ज्ञात होता है कि, सूर्यमण्डल के भीतर जो ज्योति है, वही प्रत्यक्ष परब्रह्म है। अत: भारतीय वैदिक संप्रदाय में सूर्य की उपासना का महत्व है। उसी तरह सूर्य की उपासना तथा सूर्य के अंतर्गत परमात्मा (गायत्री) की उपासना से युक्त संध्यावंदन का अत्यंत महत्व रहा है*।

॥ सनातन धर्म ॥

'सना आतनोत् इति सनातन:' । अनंतप्रकाश (सत्), या शाश्वत सुख (मुक्ति) के प्राप्ति के लिये जो 'अनुसरणीय नियम' अथवा प्रणाली है वह 'सनातन धर्म' है। भारतीय संप्रदाय के मूलभूत वेद, वेदांग, वेदांत, शास्त्र, पुराण-इतिहासादि में मुक्तिप्राप्ति के मार्ग ही बतलाये गये हैं। अत:एव भारतीय जीवन-विधान को सनातन धर्म कहते हैं।

---

*Daily performence of sandhya vandana ultimately burns all the dross, makes one pure and divine, and enables the votary to utilise all his faculties in the beneficial and auspicious ways.

- Dr. R.Srinivasan
Scientist, NGRI

॥ श्रुति-स्मृति परिचय ॥

ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदो अध्येतव्य:, ज्ञेयश्च ।

धर्मशास्त्र

इस शास्त्रवाक्य में कहा गया है कि, ब्राह्मण को निष्कारण छः अंगों सहित वेदाध्ययन करना चाहिये और उसे भलीप्रकार से समझना चाहिये। इस के अलावा उसे अन्य कोई मार्ग नहीं है।

शिक्षा व्याकरणं छन्दो निरुक्तं ज्योतिषं तथा ।
कल्पश्चेति षडङ्गानि वेदस्याहुर्मनीषिण: ॥

१-शिक्षा, २-व्याकरण, ३-छंद, ४-निरुक्त, ५-ज्योतिष, ६-कल्प - ये वेद के छः अंग हैं। इन छः अंगों से युक्त वेद को 'श्रुति' और धर्मशास्त्र को 'स्मृति' कहा जाता है। इन श्रुति-स्मृतियों के आधार पर ही भारतीय सनातन धर्म निर्भर है। पाठकों को निम्न में इन श्रुति-स्मृतियों से संक्षिप्त रूप में परिचय करवाने का प्रयास किया जा रहा है।

॥ श्रुति ॥

श्रुति - वेद हमारे सब से प्राचीन ग्रंथ हैं। वेद अनादि तथा अपौरुषेय हैं, अर्थात् वेद किसी पुरुष (व्यक्ति) के द्वारा विरचित नहीं हैं।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं देवमात्मं बुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥

श्वेताश्वतरोपनिषत् - ६-१८

जिस ने पुरातन काल में (सृष्टिकार्य के निमित्त) ब्रम्हाजी को उत्पन्न किया और (सृष्टिकार्य की सहायता के लिये) उन्हें वेदों को दिया, (जो इस प्रकार सब के मूलकारण होकर अन्यों की सहायता की अपेक्षा अथवा आवश्यकता न रखते हुए) अपनी स्वबुद्धि से जो प्रकाशित है, मोक्षप्राप्ति की कामना से मैं उस परमात्मा के शरण में जाता हूँ।

उपर्युक्त उपनिषत् वाक्य से यह स्पष्ट होता है कि, इस प्रपंच के सृष्टि से पूर्व से ही वेद है और परमात्मा के भाँति वेद भी अनादि एवं अनंत हैं। वेद में कर्म, उपासना और ज्ञान - ये तीन काण्ड होते हैं। **'काण्डत्रयात्मको वेद:'**। 'वेद' शब्द के तीन अर्थ हैं। **वित् ज्ञाने, वित् लाभे, वित् सत्तायाम्**। ज्ञान, लाभ और सत्ता-इन तीनों की विवेचना वेद में है। ज्ञान, ज्ञान के विषय, ज्ञेयपदार्थ और ज्ञान के साधन ये सभी वेद में आते हैं। ये वेद ऋषियों को योगबद्ध समाधि-स्थिति में रहते हुए स्फुरित होने के द्वारा लोक में अवतरित हुए थे। उन ऋषियों ने उन स्फुरित मंत्र-भागों को अपने शिष्यों को उपदेश के रूप में प्रदान किया। उन शिष्यों ने उन मंत्रों को अपने शिष्यों को सुनाकर अध्ययन करवाया। इस प्रकार आज पर्यंत केवल 'श्रवण' के माध्यम के आश्रय में रहने के कारण वेद को 'श्रुति' कहा जाता है। वेद तो एक ही है, परंतु रचना-भेद की दृष्टि से उसे चार भागों में महर्षि बादरायण ने विभजित किया है। **वेदान् विव्यास, इति वेदव्यास:**। वेदों को व्यास (विभजित) करने के कारण महर्षि बादरायण को 'वेदव्यास' कहते है। गद्यभाग को यजुर्वेद, पद्यरूपात्मक ऋचाओं को ऋग्वेद तथा गानरूपी सामों को सामवेद के नाम से जाना जाता है। ये तीनों 'अग्निवेद' हैं। चौथा अथर्ववेद 'सोमवेद' है। **अग्नीषोमात्मकमिदं जगत्**। अग्नि और सोम के मिलकर रहने से ही सृष्टि का सारा क्रम चलता है। वेद के इन चारों भागों में सृष्टि के ज्ञान का भण्डार है।

ऋक् - वेद - छंदोबद्ध पद्यरूपात्मक मंत्र 'ऋक्' कहलाता है। इस प्रकार के १०५५२ ऋचाओं का संग्रह 'ऋग्वेद' है, जिन का विषय देवताओं का वैज्ञानिक स्वरूप प्रकट करना है। देवताओं की स्तुति से युक्त इन मंत्रों में ईश्वर की शक्तियों तथा गुणों के माध्यम से सृष्टि के अनेक वैज्ञानिक रहस्यों का विषद वर्णन है। इस में इतिहास भी है।

यजु: - वेद - गद्यरूपात्मक (१९७५मंत्र) यजुषों का संग्रह यजुर्वेद है। यज्ञ का मुख्य वेद यजुर्वेद है। इस वेद के ज्ञाता ही यज्ञ के आचार्य बन सकते हैं। उन्नति के मार्ग में बाधक शक्तियों पर विजय प्राप्तकर आत्मा के विकास की प्रार्थनाएँ इस वेद में हैं, जैसे हम दैन्य भाव से दूर होकर पूर्ण आयु प्राप्त करें, हम श्रेष्ठतम कार्य के लिये प्रेरित हों - इत्यादि।

साम - वेद - (१८७५मंत्र-साम) इस में अधिकतर (ऋग्वेद के अंतर्गत) ऋचाओं का गानरूप अर्थात् ऋक् में स्तुत देवता-स्तुति का उपबृंहण है। उपबृंहण यानी गायन के माध्यम से मंत्रार्थ का विस्तार करना है। आकार से छोटा होने पर भी

यह बडा आकर्षक तथा आल्हाद देनेवाला है। तभी गीता में भगवान ने कहा है कि, 'वेदानां सामवेदोऽस्मि'। (वेदों में मैं सामवेद हूँ) ईश्वर की उपासना में बार-बार यह कामना प्रकट होती है कि, संसार के राग-द्वेषों में हमारा मन न डूबे, प्रकृति के उपकरणों में कल्याण की कामना है।

।। वेदों के चार भाग ।।

१) मंत्र (संहिता) २) ब्राम्हण ३) आरण्यक ४) उपनिषत् (वेदांत)। प्रत्येक वेद में ये चार भाग अवश्य होते हैं।

मंत्र :- (संहिता) मनन करने से जो ज्ञानरूप का विस्तार करता है, वह मंत्र है। 'मंत्र' मनन अथवा ध्यान का एक साधन है। प्रत्येक मंत्र का कोई निर्दिष्ट देवता, मंत्रद्रष्टा-ऋषि* और छंद होता है। मंत्र के उच्चारण से पूर्व इस का विनियोग किया जाता है। इस प्रकार के मंत्रों का संग्रह 'संहिता' है।

ब्राह्मण :- वेद के जिस भाग में संहिता के अंतर्गत मंत्रों की व्याख्या है, वह ब्राह्मण भाग है। इन में मंत्रों के क्रम की समीक्षा और उन पर भाष्य मिलते हैं। कहीं यह भाग अलग है, तो कहीं मंत्रों के साथ ही होता है। ऋग्वेद में ऐतरेय ब्राह्मण तथा कौषीतकी ब्राह्मण, यजुर्वेद में तैत्तरीय तथा काठक, सामवेद में जैमिनीब्राह्मण, शुक्लयजुर्वेद में शतपथ ब्राह्मण, और अथर्ववेद में गोपथ ब्राह्मण - ये प्रसिद्ध ब्राह्मण ग्रंथ हैं।

आरण्यक - अरण्य यानी वन में रहनेवाले, गृहस्थाश्रम से विरक्त किंतु गृहस्थी के साथ रहनेवाले मुनियों ने वैदिक मंत्रों के अनुष्ठान के पीछे जो प्रयोजन या अर्थ था, उस का गहन चिंतन किया, यह चिंतन जहाँ है, उसे आरण्यक भाग कहते हैं। ऐतरेय आरण्यक(ऋग्वेद), बृहदारण्यक(शुक्लयजुर्वेद), तैत्तरीय आरण्यक (कृष्णयजुर्वेद),

---

* ऋषियों को उन की तपस्या के दौरान समाधिस्थिति में रहते समय उनपर हुई परमात्मा की कृपा के रूप में उन्हे कुछ मंत्रों का दर्शन हुआ, जिन्हे उन ऋषियों ने पठन-पाठन की प्रणाली से संरक्षित किया। इस प्रकार मंत्रों के दर्शन को प्राप्तकर उन मंत्रों को लोकार्पण करने के कारण ऋषि 'मंत्रद्रष्टा' कहलाता है। जिसे मंत्रों का दर्शन नहीं हुआ है, उसे ऋषि नहीं कहते हैं। ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः, केवल मंत्रद्रष्टा ही ऋषि है। इस प्रकार वेद अपौरुषेय होकर ऋषियों के माध्यम से लोक में अवतरित हुए।

छांदोग्य(सामवेद) आदि प्रमुख आरण्यक ग्रंथ हैं ।

उपनिषत् - ज्ञानकाण्ड या आत्मतत्त्व का प्रतिपादन करनेवाले भाग को उपनिषत् कहा गया है । 'उप' यानी उत्पत्ति, कार्य-कारण भाव जानना । 'नि' यानी निर्णय करना और 'षत्' यानी उस निर्णयपर स्थित होना । वेद के गहरे अध्ययन और साधना के बाद जो स्फुरित हुआ, वह सारसत्व उपनिषदों में मिलता है । इसे 'वेदांत शास्त्र'(वेदस्य अन्तः, वेदान्तः) भी कहते हैं । 'अन्तः' यानी भीतर । जो वेद के भीतर ले जाता है, अर्थात् वेद के गूढतम अर्थ को समझाता है, वह वेदांत है । श्रुति-परंपरा में संहिता, पदपाठ, क्रमपाठ, ब्राह्मण और आरण्यक - इस प्रणाली के अनुसार वेदाध्ययन संपन्न होने पर अंत में उपनिषदों का अध्ययन कराया जाता है । इस प्रकार वेद के अंतिम छोर में होने के कारण भी उपनिषदों को 'वेदांत' कहते हैं । वेदों के ज्ञान का निचोड उपनिषदों में हैं, जिन में सृष्टि और जीवन के रहस्य हैं । पुरुषार्थ, आत्मा और ब्रह्म की एकता की खोज आदि गंभीर विषय उपनिषदों में हैं ।

प्रमुख उपनिषत् - ईशावास्य, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर, कौषीतकी, छांदोग्य, बृहदारण्यक आदि ।

।। स्मृति ।।
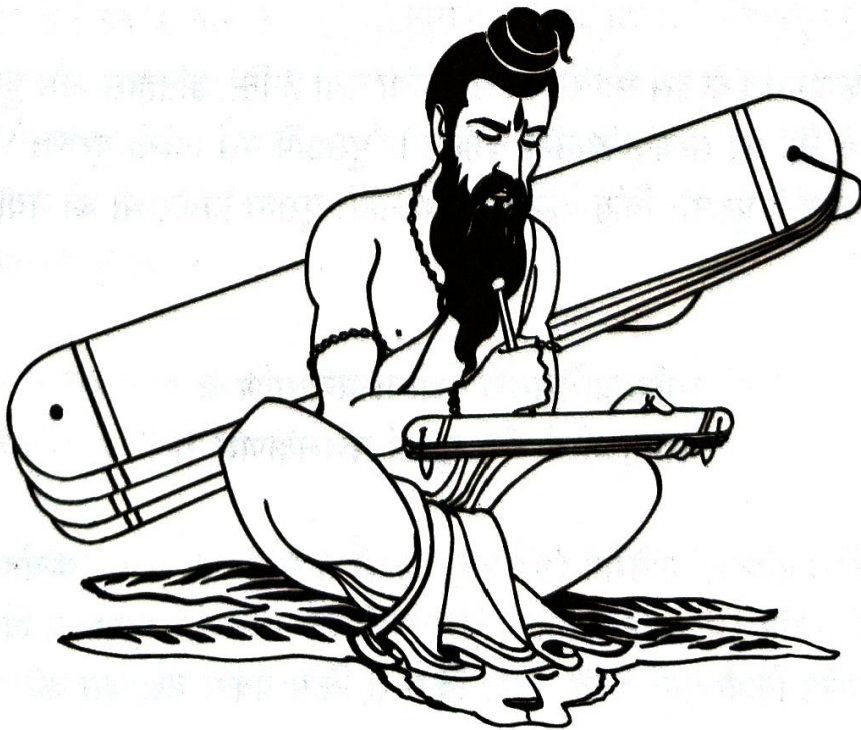
स्मृति ग्रंथों में धर्म, आचार, व्यवहार आदि विषयों पर परंपरा से प्राप्त किये गए ज्ञान का संग्रह मिलता है। ये इतने गहरे तथा प्रामाणिक संग्रह रहे हैं, कि नियम, कानून की व्यवस्था का आधार बने हैं। मनुस्मृति आचार की दृष्टि से और याज्ञवल्क्यस्मृति व्यवहार की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। इन की बातें आज के युग में भी प्रासंगिक हैं। इन में कुछ शाश्वत सत्य हैं, जो सारे संसार के लिये उपयोगी हैं। अन्य मुख्य स्मृतियाँ निम्नप्रकार हैं - पराशर, गौतम, वसिष्ठ, बृहस्पति, नारद, शंख, लिखित इत्यादि। जिस ऋषि की अध्यक्षता में हुई सभा में 'स्मरण के आधार पर' आचार-पद्धति का संकलन हुआ, उस ऋषि के नाम से ही वह 'स्मृति' प्रचलित हुई। स्मरण के आधार पर निर्मित होने के कारण इन ग्रंथों को 'स्मृति' कहा गया है। इन का आधार वेद है, या वेद के सूत्र। आपस्तंब, पारस्कर, आश्वलायन, गोभिल के गृह्यसूत्र और गौतम बोधायन के धर्मसूत्र हैं। स्मृतियों को 'धर्मशास्त्र' भी कहते हैं। शास्त्र वह होता है, जो शासन या आदेश करें- जैसे इस 'श्रुति-स्मृति परिचय' लेख के आदि में उल्लेखित '**ब्राह्मणेन निष्कारणेन षडङ्गो वेदो अध्येतव्यः। ज्ञेयश्च।**' - इत्यादि।

पुराणः - मंत्रों का अर्थ ब्राह्मण ग्रंथों से समझा जाता है। उस का भी स्पष्टीकरण विस्तृत रूप में कथारूपों में पुराण और इतिहास में मिलता है। पुराण को भी वेद की भाँति अनादि माना जाता है।

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्

याज्ञवल्क्य शिक्षा।

शिक्षा ग्रंथ के इस सूत्र से यह समझाया गया है कि, इतिहास और पुराणों की सहायता से वेद को सम्यक् जानना चाहिए। **'पुराऽपि नव एवेति पुराणः'**। 'पुराण' शब्द का अर्थ है पुराना, किंतु केवल पुराना नहीं, पुराना होकर भी जो नया है, वह पुराण है।

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

सर्ग (सृष्टि), प्रतिसर्ग (प्रलय), (कथा से संबंधित) वंश, मन्वंतर (कथा का समय), और (कथा के अंतर्गत) वंश के चरित्र - ये पांच पुराण के लक्षण हैं। पुराण में स्पष्ट किया गया है कि, सृष्टि किस से किस प्रकार हुई, इस का अंत कैसे

और कहाँ होगा, सृष्टि के पदार्थों की उत्पत्ति का क्रम क्या है, प्रमुख राजा और ऋषि किस क्रम से हुए, उन के चरित्र कैसे थे और सृष्टि और प्रलय का समय कितना लगता है। साधारण लोगों के लिये कथा और वार्ता की सहायता से ज्ञान और धर्म की मूल बातों को वेदव्यास ने पुराणों में समझाया है। ये पुराण हमारे धर्म, विज्ञान, इतिहास, साहित्य और संस्कृति का आधारस्तंभ रहें हैं।

कितने पुराण - वेदव्यास ने पुराणविद्या को अठारह भागों में बांटकर १८ ग्रंथ बनाए है। उन के नाम हैं- १) ब्रह्मपुराण २) पद्मपुराण३) विष्णुपुराण ४) वायु अथवा शिव ५) भागवत पुराण ६) नारद पुराण ७) मार्कण्डेय पुराण ८) अग्नि पुराण ९) भविष्य पुराण १०) लिंग पुराण ११) ब्रह्मवैवर्त पुराण १२) वराह पुराण १३) स्कन्द पुराण १४) वामन पुराण १५) कूर्म पुराण १६) मत्स्य पुराण १७) गरुड पुराण १८) ब्रह्माण्ड पुराण

सभी पुराणों में कुल मिलाकर चार लाख श्लोक बताये जाते हैं। अब सारे पुराण पूरे स्वरूप में नहीं मिलते।

इतिहास : - इतिहासग्रंथ दो हैं। रामायण (वाल्मीकि), महाभारत (वेदव्यास)। पुराण और इतिहास में विषयों की समानता हैं। महाभारत के दो भाग हैं- महाभारत और हरिवंश। हरिवंश को अलग पुराण भी कहा जाता है। इन दोनों में चरित्रों के

माध्यम से धर्म की विशद व्याख्या और विवेचना है। दोनों ही काव्य हैं। इन का जैसा प्रभाव, हजारों साल बाद भी भारत की संस्कृति पर पडा है, वैसा अन्य किसी ग्रंथ का नहीं। गीता भी महाभारत का ही अंग है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का कोई विषय महाभारत से नहीं छूटा।

रामायण : - वाल्मीकि का रामायण आदिकाव्य है। उस के पहले विश्व में कोई काव्य नहीं मिलता। इस में राम की कथा का सुंदर वर्णन सात कांडों में हैं - जैसे बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किंधा, सुंदर, युद्ध और उत्तरकांड।

महाभारत - कृष्ण के अलावा कौरवों-पाण्डवों के संघर्ष की कथा, गीता का उपदेश और अनेक प्राचीन कथाएँ हैं। इस में १८ पर्व हैं। शांतिपर्व में राजधर्म की गहरी चर्चा है। वह आज के प्रबंधशास्त्र (management) के लिये खजाना है। महाभारत में धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र और आचारशास्त्र का गहरा विवेचन है।

आगम-निगम - कर्मकाण्ड के ग्रंथ आगम कहलाते हैं। इन में इष्टदेव की साधना के तरीके बतलाये गये हैं। आगम का ही दूसरा नाम तंत्रशास्त्र है। उपासनाकाण्ड के ग्रंथ निगम ग्रंथ है।

मंत्र-तंत्र-यंत्र - 'मंत्र' में देवतास्वरूप का ज्ञान है। मंत्र मनन करने से ज्ञानरूप का विस्तार करता है। तंत्र देवता के तन का विस्तार करता है। यंत्र उस विस्तार का नियमन करता है।

ज्ञान-विज्ञान - अनेक प्रकार के अनंत पदार्थों में एक मूलतत्त्व को देखना ज्ञान है, जैसे सोने के हजारों गहनों में 'स्वर्ण' को देखना। 'ज्ञान' शब्द को बहुत गहरी जानकारी के अर्थ में लेते है। अमरकोष में कहा गया है कि, मोक्ष के संबंध में जो विचार किया जाय, उस विचार और बुद्धि को 'ज्ञान' कहते हैं। जैसे अनेक पदार्थों में एक मूलतत्त्व को देखना 'ज्ञान' है, वैसे ही एक तत्त्व से अनंत पदार्थों का विस्तार 'विज्ञान' है। किसी विषय में कार्य-कारण का विश्लेषण करके पूरी क्रिया प्रत्यक्ष करना और कारण के अनुसार क्रिया करके कार्य को संपन्न करना विज्ञान की प्रक्रिया हुई।

शास्त्र - वैदिक साहित्य में छ:शास्त्र हैं। पहले ही उक्त प्रकार शास्त्र वह है, जो

शासन करें । 'शासतीति शास्त्र:'

उन के नाम हैं - दर्शन शास्त्र, न्याय शास्त्र, मीमांसा शास्त्र, सांख्यशास्त्र, योगशास्त्र और धर्मशास्त्र ।

दर्शनशास्त्र - दर्शन में वे सिद्धांत आते हैं, जो हम किसी विषय पर स्थापित करते हैं ।

न्यायशास्त्र - दर्शन के विचारों को किस प्रकार से बातचीत में लाया जाय, वह तरीका न्याय शास्त्र सिखाता है । इस प्रकार जो विषय है, उसे गहराई से समझाकर उस की खोज और प्रवर्तन करना न्याय की प्रक्रिया हुई । न्याय शास्त्र दर्शन की बात को व्यवहार में लाने का प्रयत्न करता है । इसे आन्वीक्षिकी या तर्कविद्या भी कहा गया है ।

मीमांसाशास्त्र - वेद के वाक्यों के अर्थ को समझाने का शास्त्र मीमांसा शास्त्र है । यह शास्त्र वेदों के वचनों को सरल भाषा में सब लोगों को समझाता है ।

सांख्यशास्त्र - सांख्य यानी सम्यक् ख्याति । किसी विषय को ठीक-ठीक समझाना ही सांख्य शास्त्र का उद्देश है । आचार्य कपिल ने अपने सांख्य शास्त्र में प्रकृति और चेतन को सृष्टि का मूल मानते हुए उस की विशद चर्चा की । कपिल के इस विशिष्ट अर्थ के अलावा सारा तत्त्वज्ञान सांख्य में आता है ।

योगशास्त्र - स्थूल को सूक्ष्म से जोडना 'योग' है । योग के और कई अर्थ हैं, जैसे युक्ति, साधन, उपाय, जोड, मेल, कुशलता, चतुराई या शैली । पतंजलि के योगशास्त्र में चित्तवृत्ति (चंचलता) का निरोध या, इन्द्रियनिग्रह का साधन बताया गया है। इस के द्वारा शारीरिक स्वास्थ्य भी सिद्ध होता है ।

धर्मशास्त्र - स्मृतिग्रंथों को ही धर्मशास्त्र कहते हैं । इन में देश-काल के अनुसार समाज-व्यवस्था के नियम, कानून, आचार-विचार और लोकव्यवहार आदि का प्रतिपादन है ।

॥ मंत्रपरिचय ॥

इस पुस्तिका में उल्लेखित मंत्रों का सामान्य नाम-परिचय निम्न में है।

प्रणव -- ॐ (अ,उ,म्)

व्याहृतित्रय -- भूः । भुवः । स्वः ।

सप्तव्याहृति -- भूः । भुवः । स्वः । महः । जनः । तपः । सत्यम् ।

गायत्री -- तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्यधीमहि । धियोयोनःप्रचोदयात् ॥

गायत्री शिर -- ओमापोज्योतीरसोमृतं ब्रह्म भूर्भुवःस्वरोम् ।

।। गायत्री मंत्र ।।

- एक लघुपरिचय।

ॐ भूर्भुवःस्वः।
तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नःप्रचोदयात् ।।

सर्वविदित है कि, उपर्युक्त २४ अक्षरों से युक्त मंत्र 'गायत्री' है।

गायन्तं त्रायते यस्मात् गायत्रीत्यभिधीयते ।
प्रणवेन च संयुक्तां व्याहृतित्रयसंयुताम् ।।

प्रणव (ॐ) तथा व्याहृतित्रय (भूः, भुवः, स्वः) से युक्त इस मंत्र को इसलिये गायत्री कहा जाता है कि, 'गायन्तं त्रायते' यानी गानेवाले को अर्थात् इस मंत्र का जप करनेवाले को यह मंत्र त्राण देता है यानी रक्षा करता है।

इस मंत्र को ऋग्वेद (३ मं,६२ सू, १० मं) में, यजुर्वेद (१-५-६४, ३-४३ शुक्ल) में तथा सामवेद (२-१३-९) में शाखाभेद के अनुसार केवल स्वरभेद के अलावा एकरूप में पाया जा सकता है।

हृदयाकाशे तु यो जीवः साधकैरुपगीयते ।
स एवादित्यरूपेण बहिर्नभसि राजते ।।

साधकों द्वारा स्तुत होनेवाला जो हृदय में स्थित परमात्मा है, वह ही आदित्य के रूप में आकाश में विराजमान है।

आदित्यान्तर्गतं यच्च ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमम्।
हृदये सर्वभूतानां जीवभूतं स तिष्ठति ।।

आदित्य के भीतर जो उत्कृष्ट ज्योति है, वही ज्योति सभी प्राणियों के हृदय में जीव के रूप में प्रतिष्ठित है। गायत्री मंत्र में उस सूर्यमण्डल के अंतर्गत ज्योतिस्वरूपी

परब्रह्मचैतन्य की स्तुति एवं धीशक्ति के प्रचोदन की प्रार्थना है। (**Gayatri Mantra:** Tradition accords unrivalled importence to Gayatri mantra. This is the tenth mantra in the last or 62 mandala of Rigveda. No other mantra in any veda samhita is given so much importece. this mantra was revealed to the rishi Visvamitra Gathinah This sukta has 18 mantras of which the verses 10 to12 are dedicated to the deity savitr. Its chhandas is Gaytri, having 24 syllabus. It gets its name from the name of metr. Later, the deity savitr was identified with the deviSavitri. This mantra is used for japa in the Sandhya worship of all hindus where the invocation is to the four goddesses Sandhya, Gayatri, Savitri and Sarasvati. this mantra occurs in other Veda samhitas, Brahmana texts, Upanishads and the shrouta texts.Several major Upanishads like Brhadaranyaka Upanishad{6.3.7} explain the import of Gaytri mantra by stating, " if one should sprinkle this even on a dry stump, branches would grow and leavs spring forth".

[२]तत्सवितुर्वरेण्यं [१]भर्गोदेवस्य धीमहि । [३]धियोयोन: प्रचोदयात् ।।

[1]We medicate on the excellent slendour (भर्ग) of the divine,
[2]Savitr, who is supremly desirable (वरेण्य) and is that one (तत्)
[3]May he activate ourthoughts towards wisdom.
Ther is no symbol "Aum" or "Om" in the beginning of mantra in all the Veda Samhitas quoted above. Ther is a tradition of be gining the recitation with the sacred symbol on certain occasios.

[१]ॐ भू: । ॐ भुव: । ॐ स्व: । ॐ मह: । ॐ जन: । ॐ तप: । ॐ सत्यम् ।
[२]ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि । धियोयोन: प्रचोदयात् ।।
[३]ॐ आपोज्योती रसोमृतं ब्रह्म भूर्भुव:स्व: ॐ ।

[1]Om erth, Om mind-world, Om heaven, Om the realm of super-mind, Om ANNADA world, Om the world of askesis, Om Truth.
[2]Om, may we medicate on the Adorable Light of that divine Generator

Who energise our thoughts.

[3]Om, He is water, light, flavour, ambrosia and also the three worlds. He who is donated by PRANAVA is all these

Explanation:

The three lines begnning with TAT SAVITUR is addressed to the deva Savitr, The spiritual Sun. The Sun,Savitr is not the physical sun we see in the skies, but the suprem Effulgence in the highest firmament above, beyond the loower triple creation. The physical sun is indeed taken as the image of Truth-Sun, The center of all knowledge and radiating power. It is the radiance issuing from the suprem source in which is amassed all the creative movement of the Uncrate that is ultimate root of all movement in the creation. Let that light motivate and energize our thought movements, says the rishi. In the Vedic times, the worship of murti or idols seem to be absent. In the later times Savitr was represented as a Goddess, sometimes with one face, sometime with five faces sitting on a lotus or standing on the waters, the standard symbol of Divine energies. One pair of her hands has conc the wheel chakra symbolizing the creation by the world. The second pair carries the mace and the axe representing her forces to battle the demons. in another pair, she carries the bowl of madhu(hony), the wine of Delight, aananda, the secret of creation. On other pair display her benedication to all her devotees.

-- page. no. 02 -- Veda mantras and suktas-
Widly used in worship.
Sri Aurobindo kapalishastri institute of Vedic Culture
Bangalore.)

'सुवति-प्रेरयति कर्माणि लोकम्' जगत् के सभी जीवियों को अपनी ज्योति से उन के कार्यों में उन्हे प्रेरित करने के कारण सूर्य 'सविता' कहलाता है। 'सवितुरियं ऋक् ' उस सविता से संबंधित मंत्र (ऋक्) होने के कारण गायत्री को 'सावित्री' भी कहते हैं।

'तद्बलानां बलं श्रेष्ठं तत् प्रज्ञाबलमुच्यते' महाभारत के इस वाक्य में कहा गया है कि, सभी प्रकार के बलों से भी प्रज्ञाबल यानी धीशक्ति श्रेष्ठ है। क्यों कि, प्रज्ञाबल से ही हम कार्य-अकार्य का निर्णय करते हैं। 'प्रचोदयन्ती पवने द्विजानां'। 'द्विज' यानी उपनयन संस्कार में गायत्री उपदेश के प्राप्ति के द्वारा 'द्वितीय जन्म' यानी ब्राम्हण जन्म को प्राप्त करने के कारण गायत्री मंत्र के जापक को 'द्विज' कहते हैं। उन द्विजों के वायुवों को यानी प्राण-अपानादि शरीर के जीवनकारक पंचप्राणों को उत्तेजितकर जापक की रक्षा करने के कारण यह मंत्र 'गायत्री' कहलाता है। **'गयान् प्राणान् तत्रे तस्मात् गायत्री नाम'**। मनन करने से जो त्राण देता है, यानी जो मननकर्ता की रक्षा करता है, वह 'मंत्र' कहलाता है। **मननात् त्रायते इति मन्त्रः**। संस्कृतभाषा के सामान्य श्लोक में तथा वेद के अंतर्गत मंत्रों में भिन्नता है। 'श्लोक' किसी व्यक्ति के द्वारा विरचित एवं केवल अर्थयुक्त होता है। परंतु 'मंत्र' किसी व्यक्ति के द्वारा विरचित न होकर अर्थवत्ता के साथ ही 'निगूढ शक्तियुक्त' भी होता है। श्लोक का बिना उपदेश कोई भी अध्ययन या पठन कर सकता है, परंतु 'मंत्र' का पठन करने के लिए किसी 'गुरु' से उस मंत्र का उपदेश प्राप्त करना आवश्य है। इसीलिये किसी एक ही मंत्र के अलग-अलग प्रकारों के अनुष्ठान करने से अलग-अलग प्रकार के फल मिलते हैं। अपनी कामना के अनुसार ऋषियों द्वारा बनाये गये नियमों का पालन करते हुए मंत्रानुष्ठान करने से उद्देशित फल अवश्य प्राप्त होता है। यही 'मंत्र' की विशेषता है। मंत्र को शास्त्रबद्धरूप से पुनः-पुनः पठन करने से उस मंत्र में विक्षिप्त शक्ति एवं शब्दतरंग अंतरिक्ष से संबंध साधकर फलप्राप्ति के कारण बनते हैं। उपर्युक्त प्रक्रिया के द्वारा मंत्र का फल प्राप्त होना तब तक संभव नहीं है, जब तक वह 'मंत्र' उस जापक को सिद्ध* नहीं हुआ हो। बिना उपदेश, बिना गुरु और बिना

---

* प्रत्येक मंत्र की सिद्धि के लिए अलग-अलग विधान आगम शास्त्र में कहे गये हैं।

मन्त्रसिद्धिं विना कर्तुर्जप होमादिका क्रिया:।

काम्यं वा यदि वा मोक्ष: सर्वं तन्निष्फलं भवेत्॥

-- देवी भागवत ११-२१-४५

मोक्ष के उदात्त लक्ष्य हो, या धन-धान्यादि के प्राप्ति की कामना हो, परंतु मंत्रानुष्ठान का फल तब तक प्राप्त नहीं होता है, जब तक वह 'मंत्र' उस जापक को सिद्ध न हुआ हो। बिना सिद्धि के ही किये जाने वाला जप निष्फल है। 'अभिनव शंकराचार्य' उपाधि द्वारा विभूषित श्री मार्तण्डमाणिकप्रभु महाराज जी ने कालाग्निरुद्र की स्तुति करते हुए

मंत्र फलदानैक बद्धदीक्षा।

- कहकर 'फल' के प्राप्ति के लिए मंत्र, सिद्धि, दीक्षा - इत्यादियों के महत्व को दर्शाया है।

सिद्धि के वैसे ही किसी मंत्र का पठन करने से या किसी पुस्तिका में लिखे हुए मंत्रों को पढने से अथवा ध्वनिमुद्रिका (Voice recording) के द्वारा मंत्र को सुनने से 'मंत्र' का फल नहीं मिलता है, अपितु अनिष्टफल या पाप मिलता है। आज-कल गायत्री मंत्र को संगीत के माध्यम से श्राव्य बनाने के प्रयास में शास्त्रविहित स्वरसंचार को त्यागकर उस मंत्र की श्रेष्ठता को नष्ट किया जा रहा है। किसी भी वेदोक्त मंत्र को बिना वैदिक स्वरसंचार के पठन करना अनुचित है। उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, एककंप, त्रिकंप इत्यादि स्वरों के अनुपालन के साथ पठन किये जाने पर ही वह वाक्य 'मंत्र' बनकर फलकारी बनता है। बिना वैदिक स्वर के पठन करने से वह मंत्र भी संस्कृत भाषा के एक सामान्य श्लोक या भजन-गीत के भाँति केवल अर्थयुक्त एवं मनोरंजक बन जाता है। स्वरयुक्त वेद मंत्रों के उपदेश का विधान, उस मंत्र को सिद्ध करने का विधान, किस मंत्र का क्या फल इत्यादि विषयों को ऋषियों ने अपने संशोधन से, अनुभव से और तपो-बल के आधारपर निर्धारितकर ग्रंथों में उल्लेखित किया है, जिन का अनुसरण हमें करना है।*

यहाँ इस बात पर अनुमान उत्पन्न होता है कि, गायत्री मंत्र का जप करने का

---

*1) Further, Tgough gaytri was repeated by the members of first three classes of the aryanhold, it was more or less confined gradual loss of spiritualising tendencies among other classes, necessity was felt in course of time for other forms of spiritual disciplines. It was then that the agmic mantras came into importance and were taught throughout the lenth and breadth of india.

- swami ghanananda

The sinence of mantra or the sacred world- An essay in the book on meditation- p.115

2) The vaidiki Gayatri which according to the vaidika system, none but the twice born may utter. To sudra, whether man or woman, and the women of all other castes it is forbidden. The tantra sastra which has a Gaytri of its own, shows no such exclusiveness. Chapter 3 verses109-111 of the mahanirvana tantra, gives Brahma Gayatri for worshippers of Brahma (परमात्मा).

- sir john woodroffe, in his Garland of Letters's - p.267

अधिकार किसे है? कौन करें? कौन न करें? इत्यादि बातों का शास्त्रीय समाधान प्राप्त करने का प्रयास करें तो -

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयतां पावमानीद्विजानाम् ।
आयु:पृथिव्यां द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्वा प्रजातुं ब्रह्मलोकम् ।।

अथर्ववेद के इस मंत्र में 'द्विज' शब्द का प्रयोग हुआ है । उपनयन सस्कार के समय गायत्री मंत्र के उपदेश प्राप्ति के द्वारा दूसरा जन्म प्राप्त करने के कारण ब्राह्मणों को 'द्विज' कहते हैं और द्विजों को ही गायत्री मंत्र की उपासना करने का अधिकार है। गायत्री ही द्वितीय जन्म का कारण है। इस बात पर आपत्ति जताते हुए कुछ लोग कहते हैं कि, क्षत्रिय एवं वैश्य वर्णों में भी उपनयन करने का विधान है । इसलिये क्षत्रिय एवं वैश्य भी द्विज हैं और उन्हे भी गायत्री का अधिकार है। परंतु धर्मशास्त्र का कहना है कि,

तत्सवितुर्वरेण्यमिति गायत्रीं ब्राह्मणाय,
आदेवोयातु सविता सुरत्नं इति त्रिष्टुभं क्षत्रियाय,
युञ्जते मन इति जगतीं वैश्याय।

पारस्कर गृह्यसूत्र - २-३-९

तत्सवितुर्वरेण्यं ..... यह २४ अक्षरों से युक्त गायत्री छंद का मंत्र ब्राह्मणों को, आ देवोयातु सविता..... यह ४४ अक्षरों से युक्त त्रिष्टुप् छंद का मंत्र क्षत्रियों को, युंजते मन उत..... यह ४८ अक्षरों से युक्त जगती छंद का मंत्र वैश्य को- इस प्रकार तीनों वर्णों को तीन अलग-अलग मंत्रों का निर्देश शास्त्रकारों ने दिया है, जो उन वर्णों के धर्म के लिये सहकारक हैं और इन तीन मंत्रों के आधारपर ही तीनों वर्णों के उपनयन का विधान भी निर्भर हैं। गायत्री छंद* के मंत्र के प्रत्येक पाद में ८ अक्षर और

---

* गायत्री छंद ८X३ =२४, द्विपदा गायत्री छंद ८X२ =१६, उष्णिक् छंद ८+८+१२ =२८, अनुष्टुप् छंद८X४=३२, जगती १२X४ =४८, शक्वरी ५६, अतिशक्वरी ६०, धृतिः ७२, अतिधृतिः ७६, जगती ४८- इस प्रकार विभिन्न अक्षर-संख्याओं से युक्त २० से भी अधिक छंद के १०५५२ मंत्र ऋग्वेद में हैं, जिन में केवल गायत्री अधिक छंद के २४५६ मंत्र हैं। इन २४५६ गायत्री मंत्रों में तीसरे मण्डल के ६२ वें सूक्त के १० वें ऋक् 'तत्सवितुः'...इस मंत्र का विशेष रूप से उपासना में प्रयोग होता है।

तीनों पादों में कुल २४ अक्षर है।

तत्-१ । स-२ । वि-३ । तुः-४ । व-५ । रे-६ । णि-७ । यं-८ । ८x३ = २४

अत एव ब्राह्मणवर्ण को आठ वर्ष के आयु में उपनयन करने का नियम है।

अष्टमे ब्राह्मणस्योपनयनम् । गर्भाष्टमे वा ।

गौतम धर्मसूत्र।

क्षत्रियों के लिये निर्दिष्ट 'जगती' छंद के मंत्र के प्रत्येक पाद में ११ अक्षर और चारों पादों में कुल ४४ अक्षर हैं। इसी लिए क्षत्रियवर्ण को ग्यारह वर्ष की आयु में उपनयन करने का विधान है।

एकादश द्वादशयो: क्षत्रियवैश्ययो: ।

उसी तरह वैश्यों के लिये निर्दिष्ट जगती छंद के मंत्र के प्रत्येक पाद में १२ और चारों पादों में कुल ४८ अक्षर हैं। अत:एव वैश्यों को १२ वर्ष की आयु में उपनयन करने का नियम शास्त्रकारों ने बनाया है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि, गायत्री उपासना का निर्देश केवल ब्राह्मणों को है। अन्य वर्णों को अन्य मंत्रों का निर्देश है, जो उन के लिये श्रेय के कारण और उपयोगी हैं।

उपर्युक्त वाद के समर्थन करनेवाले लोग अपने पक्ष में -

ब्राह्मणेभ्योभ्यनुज्ञाता गच्छ देवि यथा सुखम्।

आरण्यक, यजुर्वेद -१०-३०

इत्यादि मंत्रों को उधृत करते हैं। उपर्युक्त वाक्य में 'ब्राह्मणेभ्य:' यह शब्द सिद्ध करता है कि, गायत्री केवल ब्राह्मणों के लिये विहित है।

आयु:पृथिव्यां द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्वा ....।

इस मंत्र में 'ब्रह्मवर्च' की प्रार्थना है। केवल ब्राह्मणों को ही 'ब्रह्मवर्च' की

आवश्यकता होती है। क्षत्रियादियों को तो बल, तेज, धैर्य, धन, संपत्ति आदि अनेक कामनाएँ होती हैं और ब्रह्मवर्च से उन का कोई संबंध नहीं है। अतएव ब्रह्मवर्च एवं मोक्षप्राप्ति की कामना जागृत करनेवाला गायत्री मंत्र केवल ब्राह्मण को विहित है। क्यों कि, यह तो सिद्ध है कि, हम जैसी उपासना करते हैं, वैसा ही फल मिलता है।

सुभिक्ष राष्ट्र की कामना से की जानेवाली इस निम्न वैदिक प्रार्थना में उल्लेख है कि,

आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतां ...
राष्ट्रे राजन्य इषव्य:शूरो महारथो जायतां, दोग्ध्री धेनु: .....

हमारे देश में ब्राह्मण तेजस्वी हो, क्षत्रिय धीर एवं शूर हो, समृद्ध दूध देनेवाली गाय हो, उत्तम वर्षा हो...इत्यादि प्रार्थनाएँ उपर्युक्त मंत्र में हैं। एक समृद्ध समाज के लिए इन सब का होना आवश्यक है। इस प्रकार की अनेक आधारों से यह सिद्ध होता है कि, गायत्री का अधिकार केवल ब्राह्मणों को है। अन्य कुछ विद्वान् इस बात को नहीं मानते हुए ....

सर्वेषां वा गायत्रीमनुब्रूयात् ।
पारस्कर गृह्यसूत्र - २-३-१०

इत्यादि शास्त्रवचनों को बताते हैं। उन का कहना है कि, क्षत्रिय एवं वैश्य भी द्विज हैं। 'द्विजशब्दप्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय के आधारपर 'द्विज' शब्द तीनों वर्णों के उपलक्ष्य में है। अत: तीनों वर्णों को गायत्री का अधिकार है।

गायत्री का अधिकार किसे है, किसे नहीं है, इत्यादि बातों का निर्णय शास्त्रों में उक्त वचनों के आधार पर इसलिये किया जाता है कि, शास्त्र ही धर्म का अधार है*। गीता में भगवान ने भी इस बात की पुष्टि में कहा है कि,

---

* विद्वानों का मत है कि, कलियुग में पराशरस्मृति का पालन करना चाहिये। मनुस्मृति कृतयुग के लिये विहित है। परंतु आधुनिक भारत के संविधान में मनुस्मृति के आधार पर वर्ण-विभजन हुआ है, जिस के कारण राजनैतिक जगत् में मनुस्मृति की निंदा भी हो रही है।

तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यौ-विवर्जितौ ।

कार्य-अकार्य इस का निर्णय शास्त्र के अधारपर ही करना चाहिये ।

यह सब वेद-शास्त्र- पुराणादियों पर विश्वास करनेवालों की बात हुई । शास्त्रों पर ही नहीं, अपितु गीतापर भी विश्वास न करनेवाले कुछ आधुनिक-विचारक मुझ से यह प्रश्न किये थे कि, हर कोई गायत्री जाप क्यों न करें? स्त्रियों को मंत्रानुष्ठान, वेदाध्ययन आदियों से दूर क्यों रखा गया है? । उन का संदेह यह है कि, पुरातन काल में अरुंधती, गार्गी आदि ऋषिका-स्त्रियाँ वेदाध्ययन संपन्न थीं। (रामायण के अयोध्या काण्ड और सुन्दर काण्डो में पाया जा सकता है) परंतु आज-कल स्त्रियों को गायत्री का निषेध क्यों है? ।

वस्तुत: इस बात को तो सभी जानते हैं कि, पुरातन काल के ऋषिकाएँ वेदाध्ययनसंपन्न थीं और ऋषिकाओं द्वारा दर्शन किये गये अनेक मंत्र वेद में उपस्थित हैं। श्रौत यागों में यागकर्ता पुरुष के साथ उस की पत्नी के द्वारा पठन किये जानेवाले मंत्रों का निर्देश है*। परंतु ध्यान देने की बात यह है कि, वेद में नहीं, अपितु शास्त्रों में यानी स्मृति-ग्रंथों में गायत्री, वेद-मंत्रपठन आदि कौन करें, कौन न करें आदि का उल्लेख है। जिस सभा में समस्त ऋषियों के अनुमोदन के साथ ही स्मृतिग्रंथों की रचना हुई है, उसी सभा में अरुंधती आदि स्त्रियाँ भी उपस्थित थीं । हमें इस बात के भी आधार मिलते हैं कि, ऋषिकाओं ने भी स्मृतियों का अनुमोदन किया है। सहस्राधिक लुप्त वेद-शाखाओं को अपने तपोबल से स्मरणकर तथा अपने लौकिक अनुभव के आधारपर समस्त ऋषि-मुनियों के अनुमोदन के साथ ही स्मृतिग्रंथों की रचना ऋषियों

---

*कुछ लोग जो स्त्रियों के गायत्री जपने की प्रथा को समर्थन करने वाले हैं, वे इस निम्न श्लोक को प्रमाण मानते हैं-

पुरा कल्पे तु नारीणां मौंजीबन्धनमिष्यते।
अध्यापनं च वेदानां सावित्री वाचनं तथा ।।

इस का अर्थ यह हुआ कि, पुरातन कल्प में स्त्रियों को उपनयन किया जाता था। पुरातन कल्प में यानी किस कल्प में स्त्रियों को उपनयन के द्वारा गायत्री-उपदेश प्रदान किया जाता था? वर्तमान में तो 'श्वेतवराह कल्प' चल रहा है। एक कल्प में ४,३२,००,००,००० वर्ष होते हैं। यानी कितने वर्षों पूर्व यह होता था, और यह प्रथा क्यों स्थगित हुई?- इन प्रश्नों का सही उत्तर ज्ञानी-जनों को ही देना होगा।

द्वारा की गई है। उन ग्रंथों में उन्होने गायत्री को केवल ब्राह्मणें को ही क्यों निर्दिष्ट किया?, उन के अनुभव किस प्रकार के थें, उस समय की सामाजिकता कैसी थी, सभी ऋषि-मुनियों ने उन ग्रंथों को किस मापदण्ड के आधारपर अनुमोदित किया ?- इत्यादि प्रश्नों पर संशोधनात्मक अध्ययन करना होगा। वेद-काल में, ऋषि-मुनियों के समुदाय में केवल जन्म के आधार पर ही जाति (वर्ण) का निर्धार नहीं होता था। अत:एव विश्वामित्र, वाल्मीकि आदि महामहिम ब्राह्मण कुलीन न होने के बावजूद भी महर्षि कहलाते हैं।

जन्मना जायते शूद्र:, कर्मणा द्विज उच्यते।

जन्म से हर कोई शूद्र ही होता है, परंतु अपने श्रेष्ठ कर्म के कारण ब्राह्मण कहलाता है। परंतु केवल ब्राह्मण योनि में जन्म लेने से ही ब्राह्मण, शूद्र योनि में जन्म लेने से शूद्र - इस प्रकार के कुल-निर्णय कब से होने लगे? और किस कारण होने लगे ? इत्यादि बातों पर भी अध्ययनात्मक विचार करना होगा। स्त्रियों को मंत्रानुष्ठान, वेदाध्ययन आदियों का निषेध ऋषि-ऋषिकाओं ने इसलिये किया होगा कि, उन्हे ऐसा कुछ अनुभव हुआ होगा, जिस से वे स्त्रियाँ मंत्रानुष्ठान नहीं करना ही बेहतर समझें। इस का अर्थ यह नहीं है कि, मंत्रानुष्ठान से दूर रखने के द्वारा स्त्रियों को आध्यात्म से दूर रखने के प्रयत्न किये गये हैं या, उन्हे शोषित किया जा रहा है अथवा उन्हे नीच समझा गया है। वास्तव में आध्यात्म के मार्ग को पुरुष से भी स्त्री को ही शास्त्रकारों ने अधिक प्रशस्त किया है। **पुराणों में एवं कल्प में केवल स्त्रियों के लिए एक हजार से भी अधिक प्रकार के व्रत-पूजा आदि उपासना-मार्ग ऋषियों ने दर्शाए हैं, जिन का ज्ञान आधुनिक स्त्री को नहीं है**। आधुनिक स्त्री तो स्वयं को पुरुष के समान मानने के भावावेश* में उद्रिक्त होकर या अपने अज्ञान के कारण गायत्री मंत्र का पठन-पाठन आदि करने लगी हैं, जो विवेचना-रहित है। वास्तव में वैदिक मान्यता के अनुसार परमात्मा ने अपने भीतर स्थित स्त्री (माया) की शक्ति के बलपर ही प्रपंच का सृष्टिकार्य किया। इस प्रकार भारत में विश्व की सृष्टि के मान्यता में भी स्त्री को पुरुष से भी अधिक प्रभावशाली, और महत्वपूर्ण माना गया है। भारतीय संप्रदाय में स्त्रियों का जितना सम्मान रहा है, उतना विश्व के किसी अन्य संस्कृति में नहीं। जैसा भारतीय देवताओं में लक्ष्मी, सरस्वती, पार्वती अदि 'स्त्री'को देवी माना गया है, वैसा विश्व के किसी अन्य धर्मों में 'स्त्री' को देवता नहीं माना गया है। गायत्री मंत्र भी सूर्यमण्डल के

---

* यहाँ पर स्त्री के मंत्रानुष्ठान करने के संबंध में चर्चा हो रही है, इस बात से द्वंद्वार्थ उत्पन्न न करें।

अंतर्गत लिंगातीत, रूपातीत एवं गुणातीत चिद्रूपी परमात्मा के उद्देश में होने के बावजूद उस परमात्मा को 'स्त्री'रूप आरोपितकर 'गायत्रीदेवी' के नाम से उपासना की जाती है। क्यों कि, स्त्री शक्तिरूपिणी है और शक्ति की उपासना शीघ्र ही फलित होती है। स्त्रियों को मंत्रानुष्ठान से दूर रखने में ऋषियों का कोई स्वार्थ-साधन तो नहीं था। क्यों कि, वे तो केवल लोक-कल्याण के कार्यों में एवं ब्रह्मचिंतन में अपना उदात्त जीवन यापित करते थे। अपने लौकिक अनुभव, उपासना-अनुभव, दैवबल एवं लोक कल्याण की कामना के बलपर ही ऋषियों ने शास्त्रों की रचना की है।

मेरे सुनने में यह बात आई है कि, बेंगलूर नगर में दीर्घकाल पर्यन्त स्वरयुक्त* गायत्री मंत्रानुष्ठान करने के कारण कुछ स्त्रियों का गर्भकोष नष्ट होकर संतानोत्पत्ति नहीं हो रही है। ** और ध्यान देने की बात यह है कि, पुरातन काल के मंत्रानुष्ठान निरत कोई भी ऋषिका-स्त्री संतानवती नहीं थीं, अपितु विरागी एवं ब्रह्मचारिणी थीं। इस प्रकार के किसी अनिष्टफल के कारण सभी प्रकार के अनुभव होने पर ही ऋषियों ने शास्त्रों को बनाया है और उन में सूचित किया है कि, कौन क्या करें, क्या न करें।

शास्त्रों में जो नियम हैं, उन के वैज्ञानिक,*** मनोवैज्ञानिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक परिणाम क्या है - इत्यादि विषयों पर आधुनिक युग में अध्ययन नहीं हुआ है और न कोई कर रहा है। शास्त्रों के अलावा लोक में जो व्यक्ति धनवान्, बलवान् या अधिकारवान् है, उस के वचनों का पालन होने लगता है, जैसे प्रभावशाली व्यक्तियों द्वारा अपने स्वार्थ के लिये या अन्य कारणों से बनाये हुए अनेक नियमों को रीति-रिवाज के नाम पर अंधविश्वास के साथ पालन किया जाता है****।

---

* यहाँ पर स्वर की महत्ता को नहीं भूलें।

**यह बात असत्य होने की संभावना भी है।

***इस के संबंध में पृष्ठसंख्या१२१-१२४ को दखें तथा गायत्री मंत्र के संबंध में प्रचलित वैज्ञानिक शोध के विषय में अधिक जानने के लिए अंतर्जाल के इस लिंक का उपयोग करें- http://www.akasha.de/~aton/TG2003.html

****पिछले २,००० वर्षों का भारत का सामाजिक इतिहास (सरकार के द्वारा विद्यालयों के पठ्य-पुस्तिकाओं में अपने राजनैतिक लाभ के पक्ष में लिखाया गया नहीं, अपितु वास्तविक इतिहास) का एवं भारत देश पर संभवित अन्यधर्मीय अक्रमण से भारतीय सामाजिकता एवं जनसामान्य पर जो प्रभाव पडा, उस का अध्ययन करनेपर आप इस बात को समझ पायेंगे।

मानव की कुत्सित बुद्धि के कारण उत्पन्न अनेक धर्मविरोधी, स्त्री-विरोधी नियमों का, पद्धतियों का, आचरणों के दोष को वेद पर या हिंदू धर्मपर आरोपित करना अनुचित है। क्यों कि, वास्तविक हिंदूधर्म के विपरीत पक्ष में ही वर्तमान में हिंदुओं का जीवनयापन हो रहा है। आध्यात्म के नाम पर आज व्यापार चल रहा है। सनातन धर्म के चिन्हों का, पद्धतियों का सहारा लेकर कुछ ऐसे पंथ उत्पन्न हो चुके हैं, जो वास्तव में हिंदूधर्म के विरोध में हैं।

उपर्युक्त सभी बातों को ध्यान में रखते हुए मैं यह कहना चाहता हूँ कि, गायत्री मंत्र का अनुष्ठान केवल ब्राह्मण-पुरुष ही करें या सभी वर्णों के स्त्री-पुरुष करें - इस प्रश्न का 'इदमित्थं' के रूप में निर्णयकर समाधान देने में असमर्थ हूँ। यह बात मेरे ज्ञान और अनुभव के परे है। और इस पुस्तिका के द्वारा यह आशय प्रकट करना चाहता हूँ कि, इस विषय पर एक अध्ययन-क्रांति हो, जिस से उपर्युक्त प्रश्नों का प्रामाणिक समाधान प्राप्त हो सके। और स्त्रियों को उपनयन संस्कार करने की परंपरा स्थगित कब हुई? क्यों हुई? इत्यादि प्रश्नों पर भी शोध होने चाहिएँ।

अस्तु, यह सब लोक में प्रचलित गायत्री विषयक विवाद की बात हुई। परंतु सोचने की बात यह है कि, गायत्री-उपासना से उपासक का मन सात्विक होकर मोक्ष की ओर प्रेरित होता है। वैराग्य एवं उदात्त मार्ग में विचरण करते हुए मोक्ष की ओर चलना ही ब्राह्मण का धर्म (कर्तव्य) है। अत: केवल 'विरागी' ब्राह्मण वर्ण को ही शास्त्रकारों ने गायत्री-उपासना करने के लिये सूचित किया है। (यह अलग बात है कि, आधुनिक युग के ब्राह्मण-वर्णीय विरागी एवं धर्मिष्ठ नहीं रहे हैं)

सभी वर्ण के लोग एवं स्त्री-जाति भी गायत्री अनुष्ठान के कारण संसार से विमुख होकर संन्यासी बन जाने पर समाज-व्यवस्था एवं कुटुंब-व्यवस्था का सर्वनाश हो जायेगा। इसीलिये शास्त्रकारों ने केवल ब्राह्मण-पुरुषों को गायत्री एवं वेदाध्ययन विहित किया है और अन्य वर्णों को एवं स्त्रियों को उन ब्राह्मणों की सेवा के द्वारा पुण्य और पुरुषार्थ प्राप्त करने के लिये सूचित किया है।

॥ अनुबन्ध ॥

आज के आधुनिक युग में तीनों संध्याओं में गायत्री की उपासना करने की जो

शास्त्रबद्ध प्रणाली है, उस का अनुपालन नहीं करने वालों को केवल ब्राह्मण कुल में जन्म लेने के कारण 'ब्राह्मण' कहा जा रहा है और वे भी स्वयं को उसी कारण से 'ब्राह्मण' मानते हैं । आज के ब्राह्मणों के समुदाय में ब्राह्मण-धर्म का अनुपालन नहीं होने के बावजूद उपनयन, उपाकर्म- आदि वैदिक संस्कार-कर्म इसलिए किये जाते हैं कि, उन कर्मों को नहीं करने से समाज निंदा करता है।

केवल समाज में 'ब्राह्मण' कहलाते रहने के लिए ही उपवीत (जनेऊ) पहना जाता है। घर में वार्षिक श्राद्ध, विवाह आदियों को वैदिक संप्रदाय के अनुसार इसलिए करते हैं कि, ऐसा करने से समाज में विशेष गौरव प्राप्त होता है। वास्तव में ना ही उन्हे ब्राह्मण-धर्म के प्रति आदर है और ना ही उन कर्मों के प्रति श्रद्धा है।

पिछले दिनों एक व्यक्ति, जो समाज में धनिक होने के कारण प्रसिद्ध है, वे मुझ से बात चीत कर रहे थें। बातों-बातों में उन्हों ने मुझ से कहा कि, 'मेरे बेटे का उपनयन के लिए पाँच लाख रुपयों का व्यय हुआ, और उपनयन करवाने के लिए हमारे प्रांत के सबसे बडे विद्वान् ब्राह्मण को बुलाया गया था'।

तब मैं ने उन से पूछा कि, 'क्या आप के बेटा प्रतिदवस संध्यावन्दन करता है?' तो उन का समाधान यह था कि, 'नहीं, मेरा बेटा अंग्रेजी माध्यम के स्कूल में पढता है, उसे संध्यावंदन करने की आवश्यकता क्या है?' तब मैने उन से कहा कि, 'आप ने जो अपने बेटे के उपनयन के लिए पाँच लाख रुपयों का खर्च किया है, वे रुपये व्यर्थ हो गये। यदि आप अपने बेटे के उपनयन नहीं करते तो उन रुपयों को बचा सकते थे।'

मेरे इस बात को सुनकर वह सज्जन कृद्ध हो उठे और कहने लगे -'मेरा एक मात्र पुत्र है और उस पर मुझे अतीव प्रेम है। अपने पुत्र के लिए किया गया व्यय व्यर्थ कैसे हो सकता है? हमारे कुटंबवर्ग ही नहीं अपितु महारे प्रांत में ही इस प्रकार का वैभवपूर्ण कार्यक्रम किसी ने नहीं किया है। बेटे का उपनयन बार-बार आता है क्या?'.. इत्यादि।

इस प्रकार केवल अपनी संपत्ती का प्रदर्शन या शिष्टाचार के लिए अथवा लोकनिंदा से बचने के लिए, समाज में अपनी प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए वैदिक कर्मों का आचरण हो रहा है अपितु शास्त्रों की आज्ञा का परिपालन नहीं हो रहा है। तथापि ऐसे लोग स्वयं को अत्यंत धार्मिक मानते हैं।

अहरहःसन्ध्यामुपासीत।

इस प्रकार शास्त्रों में आदिष्ट आज्ञा का अनुपालन कर संध्यावंदन आदि नित्य-नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान करने पर ही धर्म का अनुपालन साध्यतर है। काल के प्रभाव के कारण लोगों में धर्म के प्रति भय नही रहा है। आधुनिक-भारत में भी अधिकांश हिंदू धर्मीय बसते हैं।

परंतु सभी हिंदू धर्मीयों को धर्म क्या है? धर्म क्यों है? धर्म का प्रयोजन क्या है? धर्म का स्वरूप क्या है - इत्यादि प्रश्नों पर सर्वप्रथम विचार करना होगा। क्यों कि, उपर्युक्त तथ्यों को भली प्रकार नहीं जानने के कारण ही भारत में 'धर्म' एक सामाजिक विवाद एवं राजनैतिक विषय बन चुका है। 'धर्म' शब्द का अर्थ Religion नहीं है।

अंग्रजी भाषा के Religion को भारतीय भाषाओं में अनुवाद करते समय 'धर्म' के रूप में किया गया है, जो वास्तव में सही नहीं है। 'धर्म' शब्द को 'कर्तव्य' या अनुशासन के रूप में समझा जा सकता है। 'धारणात् धर्मः, इताहृत् धर्मो धारयति प्रजाः।' कर्तव्य का मार्गदर्शन करते हुए अपने अनुशासन में प्रजाओं को धारण किये रहने के कारण वह 'धर्म' कहलाता है।

संविधान (Law and order) जिस प्रकार समाज को अपने अनुशासन में रखता है, उसी तरह धर्म मानव के जीवन को और समाज को अपने अनुशासन में रखता है। संविधान के अनुपालन नहीं करनेवालों को न्यायालय (Court) में प्रत्यक्षरूप से दंडित किया जाता है। परंतु धर्म का अनुपालन नहीं करने वालों को दंडित करनेवाले दण्डाधिकारी परमात्मा अदृश्यरूप में होने के कारण धर्म के प्रति भय नहीं है और धर्म का आचरण करने की अनिवार्यता प्रत्यक्षरूप से अनुभव में नहीं आती है।

धर्म का अनुपालन नहीं करने के कारण परमात्मा मानव को अवश्य दण्डित करता है। परंतु वह 'दण्ड' प्रत्यक्षरूप से हमें ज्ञात नहीं होता है। सामान्यतया हम अज्ञान के कारण अथवा स्वयंप्रेरणा के कारण अधर्म करते हैं, जैसे आश्रम-धर्म एवं वर्ण-धर्मों का पालन नहीं करना, माता-पिता की सेवा नहीं करना, स्त्रियों द्वारा निषिद्ध मंत्रोपासना करना ..आदि। उस अधर्म का 'फल' सामूहिक रूप से समाज को एवं वैयक्तिक रूप से अधर्मी को प्राप्त होता है। परंतु उस का परिणाम धीरे-धीरे एवं अप्रत्यक्षरूप से होता है।

जिस प्रकार मानव प्रकृति-धर्म का उल्लंघनकर यथेच्छ वन-नाश और नगर-निर्माण आदि करने के कारण अति-वृष्टि, अनावृष्टि, तथा भौतिक परिताप (Global Warming) जैसे अनेक प्रकार के प्रकृति-विकोप से उद्भूत समस्याओं द्वारा दण्डित हो रहा है, उसी तरह जीवन-धर्म का अनुपालन नहीं करने पर भी अनेक प्रकार से सामाजिक एवं वैयक्तिक रूप से मानव अपने जीवन में दण्डित हो रहा है।

गायत्री मंत्र का उपदेश प्रदान करते समय गुरु-शिष्यों पर संयुक्तरूप से आवृत्त वस्त्र के नीचे कान में उपांशुरूप से यानी अन्यों को वह मंत्र सुनने में न आये ऐसा उपदेश दिया जाता है। गायत्री, पंचदशी इत्यादि वैदिक एवं तांत्रिक मंत्रों को ऊंचे स्वर में पठन करना निषिद्ध है। मंत्रों के विषय में इस तरह गौप्यता बनाये रखने के पीछे का उद्देश यह है कि, मंत्रों का विपर्यास एवं दुरुपयोग न हो।

परंतु इन सभी बातों को जानने वाले ज्ञानी-जन भी गायत्री जैसे गोपनीय मंत्रों को ध्वनिवर्धक (Mic) में ऊँचे स्वर में पठन करते हैं। आधुनिक विज्ञान के अंगभूत मुद्रण-माध्यम एवं Electronic Media में मंत्रों का प्रकाशन अव्याहत रूप में होते रहने के कारण मंत्रों का विपर्यास एवं दुरुपयोग दोंनों हो रहे हैं।
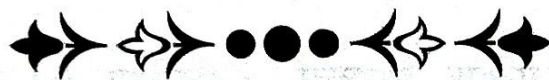
॥ गायत्री मंत्र का स्वरूप ॥

गायत्र्या गायत्री छन्दो, विश्वामित्र ऋषि:, सविता देवता, अग्निर्मुखं, ब्रह्मा शिरो, विष्णुर्हृदयं, रुद्रशिखा, पृथिवी योनि:, प्राणाऽपान व्यानोदान: समाना, सप्राणा श्वेतवर्णा, सांख्यायन सगोत्रा गायत्री, चतुर्विंशत्यक्षरा, त्रिपदा षट्कुक्षि:.....।

म. ना. उपनिषत्- यजुर्वेद।

वेद के छंदो-नियम के अनुसार 'गायत्री' इस मंत्र का छंद है। महर्षि विश्वामित्र इस मंत्र के द्रष्टा हैं और सविता इस मंत्र की अभिमानी-देवता है। अग्नि इस का मुख है, ब्रह्मा इस का शिर, विष्णु इस का हृदय, रुद्र इस की शिखा तथा पृथ्वी इस की योनी है। प्राण, अपानादि पंचप्राणों से युक्त गायत्री का वर्ण श्वेत है। सांख्यायन इस का गोत्र है, इस में २४ अक्षर हैं। तीन पाद एवं छ: कुक्षि (उदर) तथा पांच शिर हैं।

१) तत्सवितुर्वरेण्यम्। २) भर्गोदेवस्य धीमहि। ३) धियो यो न: प्रचोदयात्। - ये गायत्री के तीन पाद हैं।

१) पूर्व, २) पश्चिम, ३) उत्तर, ४) दक्षिण, ५) ऊर्ध्व (आकाश), ६) पातालादि अधोलोक - ये गायत्री के छ: उदर हैं।

१) व्याकरण, २) शिक्षा, ३) कल्प, ४) निरुक्त, ५) ज्योतिष - ये गायत्री के पांच मुख हैं।

गायत्री में स्थित २४ वर्णों के २४ अभिमानी-देवता निम्न प्रकार से हैं-

१) अग्नि दैवत्य, २) प्रजापति, ३) चंद्र, ४) ईशान, ५) आदित्य, ६) सुपाणी, ७) मैत्र, ८) भग, ९) अर्यमा, १०) सविता, ११) त्वष्टा, १२) पूषा १३) इन्द्राग्नि, १४) वायु, १५) वामदेव, १६) मैत्रावरुण, १७) भ्रातृव्य, १८) विष्णु, १९) वामन, २०) वैश्वदेव, २१) रुद्र, २२) कुबेर, २३) अश्विनीकुमार, २४) अक्षरब्रह्मा

१) त्रिष्टुप्, २) जगती, ३) अनुष्टुप्, ४) बृहती, ५) उष्णिक् - ये गायत्री के पांच छन्द हैं।

गायत्री के २४ अक्षरों की २४ शक्तियाँ निम्न प्रकार से हैं-

आद्या शक्तिस्तथा ब्राह्मी वैष्णवी शाम्भवीति च।
वेदमाता देवमाता विश्वमाता ऋतुम्भरा ॥
मन्दाकिन्यजपा चैव ऋद्धिसिद्धि प्रकीर्तिते।
वैदिकानि तु नामानि पूर्वोक्तानि हि द्वादश ॥

१) शक्ति, २) ब्राह्मी, ३) वैष्णवी, ४) शांभवी, ५) वेदमाता, ६) देवमाता ७) विश्वमाता, ८) ऋतुंभरा, ९) मन्दाकिनी, १०) अजपा, ११) ऋद्धि, १२) सिद्धि - ये १२ वैदिक नाम हैं।

सावित्री सरस्वती ज्ञेया लक्ष्मी दुर्गा तथैव च।
कुण्डलिनी प्राणाग्निश्च भवानी भुवनेश्वरी ॥
अन्नपूर्णेति नामानि महामाया पयस्विनी।
त्रिपुरा चैव विज्ञेया तान्त्रिकानि च द्वादश ॥

१३) सावित्री, १४) सरस्वती, १५) लक्ष्मी, १६) दुर्गा, १७) कुण्डलिनी १८) प्राणाग्नि, १९) भवानी, २०) भुवनेश्वरी, २१) अन्नपूर्णा, २२) महामाया, २३) पयस्विनी, २४) त्रिपुरा - ये १२ तांत्रिक नाम हैं।

चतुर्विंशतिकेष्वेवं नामसु द्वादशैवतु।
वैदिकानि तथान्यानि शेषाणि तान्त्रिकानि च ॥
चतुर्विंशति वर्णेषु चतुर्विंशति शक्तय:।
शक्तिरूपानुसारं च तासां पूजा विधीयते ॥

उपर्युक्त २४ शक्तियों में १२ वैदिक तथा १२ तांत्रिक शक्तियाँ हैं। रूप तथा शक्ति के अनुसार उन के अलग-अलग पूजा-विधान हैं।

१) पृथ्वी, २) जल, ३) वायु, ४) आकाश, ५) तेज, ६) शब्द, ७) स्पर्श

८) रूप, ९) रस, १०) गंध, ११) वाक्, १२) पाणि, १३) पाद, १४) पायु, १५) उपस्थ, १६) श्रोत्र, १७) जिह्वा, १८) घ्राण, १९) चक्षु, २०) रसना, २१) मन २२) बुद्धि, २३) अहंकार, २४) चित्त - ये २४ गायत्री के मूल तत्व हैं। हम सभी भली प्रकार इस बात को जानते हैं कि, ब्रह्माण्ड में स्थित ये २४ तत्व पिण्डाण्ड यानी मानव-शरीर में भी उपस्थित हैं।
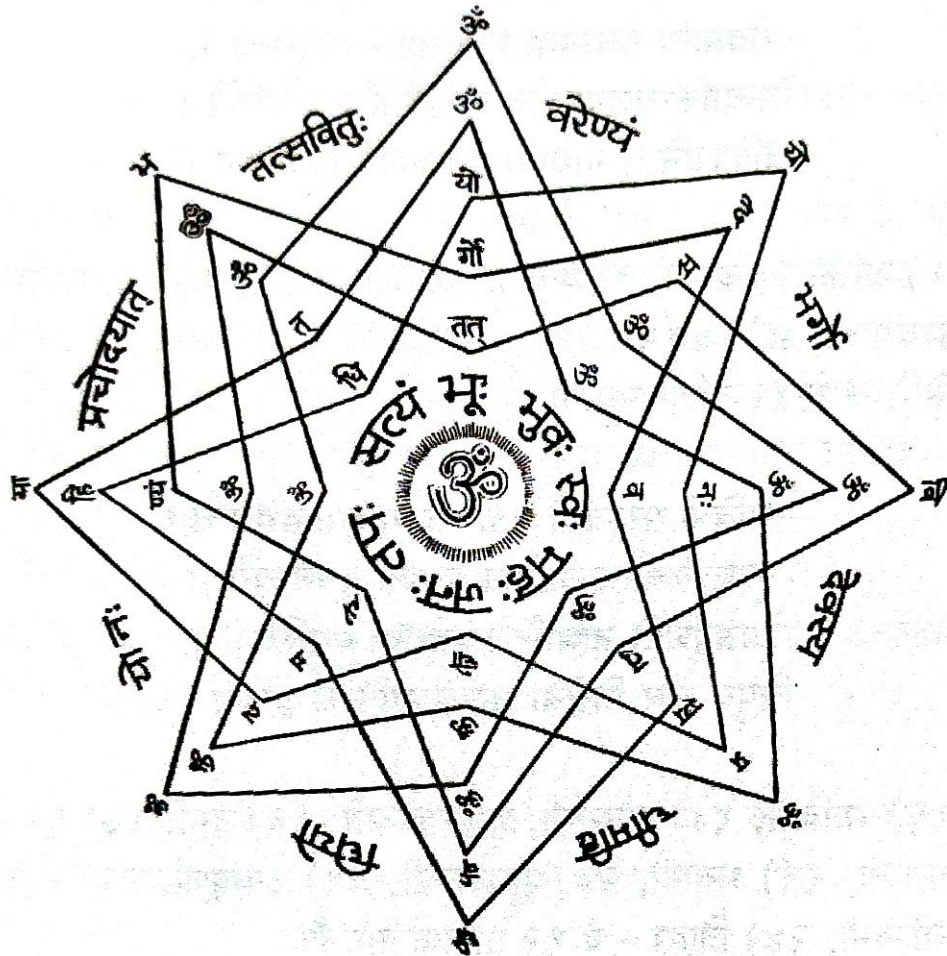
॥ श्रीगायत्री यंत्र ॥

॥ गायत्री वा इदं सर्वम् ॥

गायत्री सावित्रात्मक निर्गुण परब्रह्म ही है। परंतु सगुण उपासकों द्वारा गायत्री पंचमुखी देवी कहलाती है।

मुक्ताविद्रुमहेमनीलधवलच्छायैर्मुखैस्त्रीक्षणैः।
युक्तामिन्दु निबद्धरत्नमुकुटां तत्त्वार्थवर्णात्मिकाम् ॥
गायत्रीं वरदाभयाङ्कुशकशाः शुभ्रं कपालं गदाम् ।
शङ्खं चक्रमथारविन्दयुगलं हस्तैर्वहन्तीं भजे ॥

मुक्ता, विद्रुम, हेम, नील एवं श्वेत वर्ण के पांच मुखों से तथा त्रिनेत्रों से, चंद्रमौलियुक्त, तत्त्वार्थ सूचक वर्ण से युक्त, रत्नमुकुट धारिणी तथा हाथों में वरद, अभय मुद्रा, अंकुश, पाश, कपाल, गदा, शंख, चक्र और दो पद्मों को धारण की हुई गायत्री देवी को भजता हूँ।

उपर्युक्त श्लोक में गायत्री के सगुण रूप का वर्णन है। इसी रूप में क्यों गायत्री की उपासना करते हैं? निम्न पृष्ठों में इस प्रश्न का समाधान प्राप्त करने का प्रयास किया जा रहा है।

१) गायत्री का प्रथम मुख 'मुक्ता' यानी मोती के (रक्तवर्ण से श्वेतवर्ण में परिवर्तित) रंग में है। यह वर्ण रजोगुण से परिवर्तित सत्वगुण का संकेत है। यह मुख व्याकरण शास्त्र को सूचित करता है। गणेश इस मुख का अधिदेवता है। प्रकृति और पुरुष के अधिपति 'गणेश' योगियों की उपासना-मूर्ति हैं। अभय एवं वरप्रदान की मुद्राओं को दर्शानेवाले दो हाथ इस मुख से सम्बंधित हैं। इस मुख का स्थान जल है।

२) दूसरा मुख 'विद्रुम' वर्ण यानी रजोगुण सूचक लाल रंग में है। दुष्ट शिक्षण इस का उद्देश्य है। अंकुश एवं पाश को धारण किये हुए दो हाथ इस मुख के आधीन में हैं। दुष्ट-शिक्षण एवं शिष्ट-रक्षण करनेवाली दुर्गा इस मुख की अधिदेवता है। यह मुख शिक्षा शास्त्र को सूचित करता है। इस मुख का स्थान अग्नि है।

३) तीसरा मुख का वर्ण सूर्य सूचक 'हेम' वर्ण यानी स्वर्ण के रंग है। कल्पशास्त्र को सूचित करने वाले इस मुख के आधीन में कपाल एवं गदायुध धारण किये हुए दो हाथ हैं। इन दोनों से आहार एवं सुरक्षा प्राप्त होते हैं। इस मुख का स्थान वायु है।

४) गायत्री का चौथा मुख आकाश सूचक नील वर्ण में है। अकाश शून्यस्वरूपी है। 'आकाशं गगनं शून्यं'। गहरा पानी भी नीले रंग में होता है, जल विष्णुस्वरूप है। शंख में सुख एवं शून्य दोनों सम्मिलित हैं। 'शं' का अर्थ सुख अथवा मंगल है। 'खं' का अर्थ शून्य अथवा दुःख है। इस प्रकार सुख-दुःख सूचक शंख, और विष्णु-रूप सूचक चक्र - ये दोनों इस मुख से संबंधित हाथों के भूषण हैं। यह मुख आकाश के गुण-शब्दों को विस्तृत करने वाला निरुक्त ग्रंथ को सूचित करता है। सृष्टि के स्थितिकारक विष्णु इस मुख के अधिदेवता हैं। इस मुख का स्थान आकाश है।

५) गायत्री का पांचवा मुख धवल यानी श्वेत वर्णयुक्त है। श्वेत वर्ण त्याग का संकेत है। इस मुख के आधीन में रहने वाले दोंनों हाथों में दो कमल पुष्प शोभित हैं। ये दोंनों ब्रह्म एवं भाव-सिद्धि को सूचित करते हैं। त्यागमूर्ति शिव इस मुख की अधिदेवता हैं। यह मुख ज्योतिस्वरूपी ज्योतिष्य शास्त्र को सूचित करता है और इस मुख का स्थान पृथ्वी है।

मुख	वर्ण	स्थान	देवता	हाथ
१	मुक्ता	जल	गणेश	अभय -वरद
२	विद्रुम	अग्नि(तेज)	दुर्गा	पाश-अंकुश
३	हेम	वायु	सूर्य	कपाल- गदा
४	नील	आकाश	विष्णु	शंख-चक्र
५	श्वेत	पृथ्वी	शिव	दो कमल पुष्प

पृथ्वी, जल आदि पंचभूतात्मक इन पांच अधिदेवताओं को ही शिवपंचायतन के रूप में स्थापितकर नित्य पूजा करने का शास्त्रीय नियम है, क्यों कि, इन पांच देवताओं के सम्मिलित रूप ही निर्गुण परब्रह्म (गायत्री) है। गायत्री के शिर पर स्थित चंद्रमौलि सत्, चित्, आनंद का प्रतीक है। गायत्री देवी कमल-पुष्प पर विराजमान है। यह कमल जल में से उत्पन्न होकर भी जल से अलिप्त रहता है। इसी तरह मानव को संसार से उत्पन्न होकर संसार के अंगभूत राग-द्वेषों से अलिप्त रहते हुए ब्रह्म को प्राप्त करना है।

अन्य कुछ उपासक गायत्री के सगुण रूप का वर्णन करते समय कहते हैं कि,

मुक्ताविद्रुम .... मुखैस्त्र्यक्षतै:।

उन का कहना है कि, मुक्ता , विद्रुम अदि पांच वर्ण केवल गायत्री के शरीर की छाया हैं और गायत्री के ब्रह्म, विष्णु और शिवात्मक तीन ही मुख हैं।

मुखै: +त्री + अक्षतै: = मुखैस्त्र्यक्षतै: ।

'अक्षत' शब्द का अर्थ अभेद अथवा परिपूर्णता है। ब्रह्मादि त्रिमूर्तियों से अभेद (अभिन्न) यानी त्रिमूर्तियों के प्रतिरूपी तीन मुखों वाली गायत्री की उपासना वे करते हैं। 'वर्ण' शब्द का वास्तविक अर्थ 'स्थिति' है। गायत्री के शरीर की मुक्ता आदि पांच वर्णों की छाया पंचमहाभूतों की स्थिति है। त्रिमुखी गायत्री के उपासकों का कहना है कि, शिव के उपासकों ने शिव की भाँति गायत्री को भी पंचमुखी तथा त्रिनेत्रों वाली के रूप में उपासना करने की प्रणाली को प्रारंभ किया, परंतु वास्तव में ऐसा नहीं हो सकता।

मुक्ता - यानी भस्म का वर्ण है। अग्नि में सभी प्रकार के दोष जलकर, सभी प्रकार के दोषों से 'मुक्त' होने पर 'भस्म' सिद्ध होता है। पृथ्वी के संकेतरूपी भस्म का गुण 'गंध' है।

विद्रुम - द्रुम से यानी वृक्ष के पर्णों से द्युतिसंश्लेषण (Photo synthesis) के कारण आम्लजनक (Oxygen) के साथ जो जल का अंश या जल निकलता है, वह 'विद्रुम' है। जल का गुण 'रस' है।

हेम(अग्नि) - अग्नि का वर्ण हेम है और गुण 'रूप' है।

नील - वायु का वर्ण नील है और स्पर्श उस का गुण है।

धवल - आकाश श्वेत(धवल) वर्ण में होता है और उस का गुण 'शब्द' है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, तथा आकाश- इन पंचतत्वों के समष्टिरूप को तथा उन के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध -इन पांच गुणों को गायत्री के सगुण रूप में स्थित पांच वर्ण प्रतिबिंबित करते हैं। अस्तु, विद्वानों का मतभेद जो कुछ भी हो, परंतु सत्य तो यही है कि, पंचतत्वों में अंतर-बाह्य व्याप्त रहकर सभी जीवों के हृदय में 'आत्मसाक्षी' या अंतरात्मा के रूप में स्थित एवं सभी जीवों को चैतन्य प्रदान करनेवाला परब्रह्म वस्तु ही गायत्री है। अत:एव छान्दोग्य उपनिषत् कहता है कि,

गायत्री वा इदं सर्वं यदिदं किं च....।

॥ प्रातःकालीन गायत्री देवी ॥

ब्रह्म-रूपा, हंसवाहना, अक्ष-सूत्र एवं कमण्डलुधरा।

॥ मध्याह्न-कालीन गायत्री देवी ॥

विष्णु-रूपा, गरुड-वाहना, शंख-चक्र-गदा-पद्म-धरा।

॥ सायं-कालीन गायत्री देवी ॥

शिव-रूपा, वृषभ-वाहना, त्रिशूल-डमरु-कपाल-पाश-धरा।

॥ शतपथोक्त गायत्री महिमा ॥

शतपथ ब्राह्मण यजुर्वेद का ब्राह्मण ग्रंथ है, जिस में गायत्री के विषय में बहुत कुछ कहा गया है।

भूमिरन्तरिक्षं द्यौरित्यष्टाक्षरं ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावदेषु त्रिषु लोकेषु तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ।

शतपथ - १७-०५-०४

'भूमिरन्तरिक्षं द्यौः' इस वाक्य के अंतर्गत, **भू - मिः - अं - त - रि - क्षं - दि - औः -** इन आठ अक्षरों को गायत्री के प्रथम पाद के अंतर्गत **तत् - स - वि - तुः - व - रे - णि - यं -** इन अक्षरों के स्थान पर समायोजित कर अर्थात् गायत्री के प्रथम पाद को भूम्यंतरिक्ष और स्वर्ग में व्याप्त समझकर जपने से जापक उन तीनों लोको में विजय प्राप्त करता है।

ऋचो यजूंषि सामानीत्यष्टाक्षरं ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स वावतीयं त्रयी विद्या तावद्ध जयति

शतपथ - १७-५-५

उपर्युक्त मंत्र के अंतर्गत 'ऋचो यजूर्षि सामानि' इन **- ऋ - चः - य - जूं - षि - सा - मा - नि -** आठ अक्षरों को गायत्री के द्वितीय पाद के अंतर्गत - **भ - र्गः - दे - व - स्य - धी - म - हि -** इन आठ अक्षरों के स्थान पर अर्थात् गायत्री के दुसरे पाद को ऋक्, यजुः और साम इन तीनों वेदों में व्याप्त समझकर जपने से उन तीनों वेदों के अंतर्भाव को जापक जान पाता है।

प्राणोऽपानो व्यान इत्यष्टाक्षरं ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावदीयं प्राणि तावद्ध जयति ।

शतपथ - १५-०५-०६

प्रा - णः - अ - पा - नः - वि - आ - नः । गायत्री का तीसरा पाद **-धि - यः - यः - नः - प्र - चो - द - यात्** । गायत्री के तीसरे पाद को

प्राण, अपान और व्यानस्वरूप समझकर जपने से पृथ्वी के सभी प्राणियों पर विजय प्राप्त करने के फल को प्राप्त करता है।

अथास्य एतदेवं तुरीयं दर्शतं पदं परोरजाय एव तपति
तद्वै चतुर्थं तत्तुरीयं दर्शतं पदमिति ददृश इव ह्येषरज
उपर्युपरि तपत्येवं हैवश्रिया यशसा तपति योऽस्या एतदेवं पदं वेद।

शतपथ १७-०५-०६

इस प्रकार गायत्री के तीनों पादों को जानने के पश्चात् ऊर्ध्व दिशा में प्रत्यक्ष रूप से जो प्रकाशमान है, उस सूर्य मण्डल के अंतर्गत पुरुष ही गायत्री का चौथा पाद 'परोरजा' है। जो इस मर्म को जानकर उपासना करता है, वह सूर्य के समान सर्वाधिपत्य लक्षण से भूषित होता है।

सैषा गायत्र्येतस्मिन् तुरीये दर्शते पदे परोरजसि प्रतिष्ठिता तद्वैतत्सत्ये प्रतिष्ठितं चक्षुर्हि वै सत्यं तस्माद्यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयातामहमदर्शमहमश्रोषमिति य एव ब्रूयामहमदर्शमिति तस्मा एव श्रद्दध्याम तद्वैतत्सत्यं बले प्रतिष्ठितं। प्राणो वै बलं तत्प्राणे प्रतिष्ठितं तस्मात् बाहुर्बलं सत्यादोगीय इत्येवमेषा गायत्र्यध्यात्मं प्राणे पतिष्ठिता सहैषा गयांस्तत्रे प्राणा वै गयास्तत्प्राणांस्तत्रे ,तद्गयांस्तत्रे तस्माद्गायत्री नाम.... सयामेषायां सावित्रीमन्वाह एषैव सयस्मा अन्वाह तपत्यप्राणांस्त्रायते।

शतपथ - १७-०५-०७

सा - पूर्वोक्त। **एषा गायत्री** - यह गायत्री(त्रिपदात्मक सवितृमंत्र)। **एतस्मिन्** - इस। **तुरीये** - तुरीय में (तुरीय यानी चतुर्थ, अर्थात् गायत्री के चौथे पाद में)। **दर्शते पदे** - सूर्यमण्डल में (परमात्मा प्रतिष्ठित है)। **तद्वैतत्** - वह(सूर्यमण्डलांतर्गत गायत्री का चौथा पाद)। **सत्ये** - सत्य में। **प्रतिष्ठितं** - प्रतिष्ठित है। (आगे बताते हैं कि, सत्य क्या है?) **चक्षुर्हि वै सत्यं** - नेत्र ही सत्य है। (नेत्र सत्य कैसे होता है, इसे आगे बता रहे हैं)। **तस्मात्** - इसलिए। **इदानीं** - प्रकृत में (अब)। **अहं** - मैं ने। **अदर्शं** - देखा। **अहं** - मैं ने। **अश्रोषं** - सुना। **इति** - इस प्रकार। **द्वौ** - दो व्यक्ति। **विवदमानौ** - कहते हुए। **एतायां यत्** - आयें तो। **यएव** - जो। **अहमदर्शं** - मैने देखा। **ब्रूयात्** - कहता है। **तस्माएव** - उस पर ही। **श्रद्दध्याम** - (हम) विश्वास करते हैं। (इसीलिए) **तद्वैतत्** - वह प्रसिद्ध। **सत्यं** - सत्य

(सूर्यमण्डलाश्रित नेत्र यानी गायत्री का चौथा पाद)। **बले** - बल में। **प्रतिष्ठितं** - प्रतिष्ठित है। (वह बल क्या है, इसे आगे कहते हैं) **प्राणो वै बलं** - प्राण ही बल है। **तत्** - वह (सत्यात्मक नेत्र)। **प्राणे** - प्राण में। **प्रतिष्ठितं** - प्रतिष्ठित है। **तस्मात्** - इसीलिए। **बलं** - बल। **सत्यात्** - सत्यात्मक नेत्र से भी। **ओगीय इति** - बलिष्ठ है। **आहुः** - (इस प्रकार) बता रहे हैं। **एवमेषा** - (इस प्रकार) यह गायत्री। **अध्यात्मं** - अध्यात्मस्वरूपी(परमात्म स्वरूपी)। **प्राणे प्रतिष्ठितं** - प्राण में प्रतिष्ठित है। **सैषाह** - (इस प्रकार प्राण में प्रतिष्ठित) गायत्री। **गयान्** - गयों को। **तत्रे** - रक्षा करता है। **प्राणा वै गयाः** - वाक् आदि इंद्रिय यानी प्राण ही 'गय' हैं। **तत्प्राणांस्तत्रे** - उन प्राणों को (प्राणरूपी, गयरूपी) गायत्री रक्षा करता है। **तद्यत् गयान् तत्रे** - उन गयों की रक्षा करने के कारण। **तस्मात् गायत्री नाम** - गायत्री कहलाता है।

इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण के अलावा अन्य अनेक ग्रंथो में भी गायत्री के विषय में विवरण मिलता है।

॥ उपासना ॥

वैदिका:लक्षमेकं तु लक्षमेकं च भारतम्।

वेद मंत्रों की संख्या एक लाख है। उन में ८०,००० मंत्र कर्म के विषय में, १६,००० उपासना के विषय में तथा ४००० मंत्र ज्ञानकाण्ड यानी उपनिषत्(वेदांत) के हैं। 'उपासना' शब्द में 'उप' 'आस' 'आन' - ये तीन अंश हैं। 'आस उपवेशने' नामक धातु से 'आन' प्रत्यय के मिलने से 'उपासना' शब्द बनता है। उपास्य देवता को दीर्घकाल पर्यंत अविच्छिन्न ऐक्यभाव से भजना ही उपासना कहलाती है। परिचर्या, शुश्रूषा, उपासना- ये तीनों समानार्थक शब्द हैं। उपासक द्वारा उपास्य देवता के गुण-धर्मों को सुदीर्घकाल तक तैलधारा की भाँति चित्त में चिंतन करते रहना भी उपासना ही है। जीवन के अर्थ, उस के रहस्य, उस के अनंद की तलाश, और इस तलाश में आत्मा और परमात्मा के संबंधों को समझते हुए परमात्मा से जुडने का प्रयत्न ही उपासना है। उपासना के प्रकार कई हो सकते हैं।

बुद्धि को धर्म (धर्म के आचरण करने की इच्छा), शरीर को अर्थ (शरीर के संरक्षण एवं सुखसाधन हेतु धन), मन को काम (कामनाएँ या इच्छाएँ पूर्ण होना), तथा आत्मा को मोक्ष (तीनों शरीरों का भेदन यानी मुक्ति), **धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष** - इन्हे पुरुषार्थचतुष्टय कहा गया है। इन चार पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए ही मानव सभी प्रकार के कर्म करता है। पुरुषार्थ का अर्थ है पुरुष की खोज का अर्थ या विषय अथवा मनुष्य के जीवन का उद्देश्य। इन चार पुरुषार्थों में मोक्ष को ही परम

पुरुषार्थ माना गया है। इन चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए श्रुति-स्मृतियों एवं पुराणादियों में अनेक प्रकार के उपासना-मार्ग दर्शाये गए हैं। अभिरुचि और अधिकार-भेद के कारण वैदिक उपासनाओं के अलावा अनेक अन्य उपासना-पद्धतियाँ उत्पन्न हुई हैं, जो अपनी कुलपरंपरा अथवा भावना के अनुसार बनाये गए हैं। मानव जाति अपने इष्ट देवताओं को अनेक प्रकारों से उपासित करते आ रही है।

सर्वदेव नमस्कार: केशवं प्रति गच्छति।

सभी प्रकार की उपासनाएँ उस एकमात्र उपास्य 'परमात्मा' की ओर ही ले जाती हैं। वेद में उद्गीथ उपासना, पंचाग्निविद्या, संवर्गविद्या, मधुविद्या, शांडिल्य विद्या आदि विविध उपासनाओं का उल्लेख है। परंतु इन विधानों के उपासक संप्रति कोई नहीं हैं। आज-कल मंत्र की उपासना, यंत्रोपासना, तांत्रिक उपासना रह गई हैं। गायत्री उपासना 'मंत्र' के माध्यम से है। माया के मोह पाश में बद्ध होकर संसार सागर में डूब रहे मानवों के राजसिक तथा तामसिक गुणों को परिमार्जितकर कल्याण मार्ग पर ले जाना ही उपासना का 'लक्ष्य' है। 'धीमहि' शब्द में जो उपासना कही गयी है, वह यही है। वेद ने मानव के कल्याण हेतु तीन मर्गों को बताया है। कर्म-मार्ग, भक्ति-मार्ग और ज्ञान-मार्ग। उपासना भक्ति-मार्ग के अंतर्गत क्रिया-विशेष है। अत्मसाक्षात्कार हेतु अत्यावश्यक 'चित्तशुद्धि' ही उपासना का 'फल' है। उपासना में विविधता होते हुए भी पुराण और इतिहासों में गायत्री मंत्र को ही श्रेष्ठ उपासना-साधन कहा गया है। किसी भी उपासना-विधान का अनुसरण करने से पहले अधिकार-निर्णय, उपासना-पद्धति, उपास्य देवता का गौरवस्वरूप, उपासना का फल इत्यादि विषयों पर विचार करना होगा। किस उपासना को किस मंत्र, मंत्रोपदेश, मंत्रदीक्षा, जपविधान, समयशुद्धि, आसनशुद्धि, देहशुद्धि इत्यादि नियमों को गुरुजनों के मार्गदर्शन एवं ग्रंथों की सहायता से पालन करना होगा। ऐसा न करने पर उपासना के सत्फल के बदले में अनिष्टफल या दुष्परिणामों का सामना करना पडता है।

य:शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारत:।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

भगवद्गीता ।

उपर्युक्त श्लोक के द्वारा गीता में परमात्मा ने शास्त्रविधान का अनुसरण नहीं करने पर होने वाले परिणामों को स्पष्टतया कह दिया है।

१) स्थूल देह (जो स्थूल दृष्टि को गोचर होता है)
२) सूक्ष्म देह (जो एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करता है)
३) कारण देह (इन दोंनों शरीरों के कारणीभूत अज्ञान)

- ये मानव के तीन शरीर हैं। सत्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण स्वरूपी ये तीन शरीर प्रकृति के २४ तत्वों से उत्पन्न हुए हैं।

पंचभूत - ५
पांच कर्मेंद्रिय - ५
पांच ज्ञानेंद्रिय - ५
पंचप्राण - ५
अंत:करण चतुष्टय - ४ = २४

इन २४ तत्वों के कारण त्रिविध (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) शरीर आत्मा पर आवृत्त है। इन २४ तत्वों का भेदन यानी त्रिविध शरीर का भेदन ही 'मुक्ति' है। वह मुक्ति २४ अक्षरों से युक्त गायत्री मंत्र की उपासना से संभव है। अत:एव श्रुति-स्मृतियों में गायत्री को अत्यंत श्रेष्ठ उपासना-साधन कहा गया है।

॥ गायत्री उपासना का फल ॥

मानव जाति को मोक्षसुख के अलावा अन्य कोई लक्ष्य नहीं है। वेद, वेदांग, शास्त्र, पुराण-इतिहास आदि सभी ग्रंथ उस मुक्ति के मार्ग को ही दर्शाते हैं। भगवन्नाम स्मरण, भजन-कीर्तन, पूजन इत्यादि प्रक्रियाएँ उस मुक्ति मार्ग के शुरुआत की सीढियाँ हैं। पूजा आदि सगुणोपासक गतिविधियों से मन में सात्विकता प्रबल होकर आगे के

शास्त्रविहित कर्मों के प्रति इच्छा जागृत होती है, जैसे शिशु को स्वतंत्रता से चलने का अभ्यास होते ही दौडने, खेल-कूद करने की इच्छा जागृत होती है।

इस जगत् को ब्रह्मा ने वेद की सहायता से बनाया है, तथा मानव को इस जगत् में बांध के रखने का कार्य भी वेद से ही हुआ है। अत: इस बंधन से मुक्त होकर अनंत परब्रह्म में लीन होने के लिए वेद-मार्ग पर ही चलना होगा, अथवा वेद से भी प्रभावशाली उपासना करनी होगी। उस प्रकार की उपासना-विशेष ही गायत्री मंत्र है। इसी लिए गायत्री को वेदमाता, वेदमूल, वेदसार इत्यादि महत्तर शब्दों से अलंकृत किया गया है। वेद, वेदांग आदियों में प्रतिपादित भौतिक एवं पारमार्थिक सुख केवल सही प्रकार की गायत्री-उपासना से प्राप्त होते हैं।

सर्वकर्म विहीनोऽपि विद्याहीनश्च यो द्विज:।
सन्ध्ययोस्तत्परश्चेत्स्यात् स साक्षाद् ब्रह्मणा सम:।।

आश्वलायन - ४ -१४६

वेदाध्ययन आदि विद्याहीन तथा वैदिक कर्मों का अनुष्ठान नहीं करनेवाला ब्राह्मण भी संध्यानुष्ठान यानी गायत्री जप से 'ब्रह्मत्व' यानी 'श्रेष्ठता' प्राप्त करता है।

कुर्यादन्नान्नवा कुर्यादनुष्ठानादिकं तथा।
गायत्रीमात्र निष्णातो द्विजो मोक्षमवाप्नुयात्।।

दे. भा. १२-०८-९०

देवी भागवत में भी कहा गया है कि, केवल गायत्री की उपासना से ही मोक्ष प्राप्त होता है। गायत्री अनुष्ठान से मोक्ष के अलावा जापक को अपने जीवित काल में भी अनेक सत्फल प्राप्त होते हैं, जैसे अत्मविश्वास की वद्धि, धैर्य, नीरोगता, भूतप्रेतादि भय निवारण इत्यादि। मंत्रशास्त्र में उक्त प्रकार से विधिवत् गायत्री पुरश्चरण करने से अपमृत्यु निवारण, संतान प्राप्ति आदि कामित फल प्राप्त होते हैं। गायत्री जापक को किसी के द्वारा प्रयुक्त दुर्मंत्र, दुस्तंत्र आदि प्रयोगों से भयग्रस्त होने की आवश्यकता नहीं है।

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयतां पावमानी द्विजानाम्।
आयु:पृथिव्यां द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्वा प्रजातुं ब्रह्मलोकम्।।

अथर्ववेद - १९-१७-०१

अथर्ववेद के इस प्रार्थना-मंत्र कहा गया है कि, गायत्री द्विजों के पापों को हरणकर उन के चित्त को प्रेरित करती है तथा आयु, प्राण (पंचप्राण), संतान, अश्व-गजादि पशुसंपत्ति, कीर्ति, धन और ब्रह्मतेज को प्रदान करती है और अंत में शाश्वत ब्रह्मलोकप्राप्ति की भी प्रार्थना है। देवीभागवत में अनेक प्रकार की कामनाओं के लिए गायत्री मंत्रानुष्ठान के अनेक विधि-विधान बताए गये हैं।

यदन्हात् कुरुते पापंतदन्हात् प्रतिमुच्यते।
यद्रात्रियात् कुरुते पापं तद्रात्रियात् प्रतिमुच्यते ।।

म.ना.उ. यजुर्वेद।

विधिवत् गायत्री उपासना करते रहने से दिन में किये हुए पाप दिन में ही तथा रात्रिकाल में किये हुए पाप रात्रिकाल में ही नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार पापनिवारण तथा ऐश्वर्यादि के प्रदान से जापक की लौकिक प्रतिष्ठा को बढाने के अलावा, जापक अपेक्षा करे या न करे, उस उस का चित्त शुद्ध होकर अत्मानंद की कामना जागृत होती है। वैराग्य, संयमन आदियों की स्वयं वृद्धि होती है। इस प्रकार सुवर्ण की अपेक्षा करने पर गायत्री सुवर्ण के साथ मुक्ति नामक वज्र को भी प्रदान करती है। वास्तव में गायत्री को जपने का मूल उद्देश्य मुक्ति ही तो है।

गायत्रीं छन्दसां माता इदं ब्रह्म जुषस्व मे।

इत्यादि श्रुतिवचनों से उपर्युक्त बात को पुष्टि मिलती है।

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वात् दीर्घमायुरवाप्नुयु:।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च ।।

मनुस्मृति - ४-९४

प्रचीन काल में ऋषि-मुनिजन दीर्घसंध्या यानी अधिक जपानुष्ठान करने के कारण दीर्घायु, तेजस्वी, प्रज्ञावान्, कीर्तिमान् और ब्रह्मवर्चस्वी रहते थे।

अथर्ववेद में तथा मंत्रशास्त्र (निगमग्रंथ) में गायत्री के अनुलोम-विलोम के जपविधान से शत्रुनाश आदि विविध फल बतलाये गए हैं।

ऋग्वेद के मंत्रों के फलनिर्णय तथा अनुष्ठान-विधान पर महर्षि शौनक द्वारा विरचित ऋग्विधान में कहा गया है कि,

गायत्रीमन्त्रसिध्यर्थं गायत्रीं त्र्ययुतं जपेत्।
सर्वेषां मन्त्र सिध्यर्थं गायत्रीं लक्षकं जपेत्॥
गायत्री न्यासपूर्वां च सप्तव्याहृति संपुटाम्।
त्र्ययुतं तु जपेत् पूर्वं गायत्री सिद्धदा तत:॥
त्रिमधुर्वै त्रिसाहस्रं गायत्र्या जुहुयादथ।
असुराणां सुराणां च भेदो नास्ति जगत्त्रये॥
प्रथमं लक्षगायत्रीं सप्तव्याहृतिसंपुटाम्।
तत: सर्वैर्वेदमन्त्रै:सर्वसिद्धिं च विन्दति॥
होम:कार्यश्च गायत्र्या होतव्यं त्र्युतं मधु।
वेदमन्त्रा: तत:सम्यक् द्विजानां कामधेनव:॥
तर्पणं चाभिषेकं च होमं विप्रांश्च भोजयेत्।

शतपथोक्त ऋग्विधान।

सप्तव्याहृतियों से संपुटित गायत्री का लक्ष जप एवं हवन तर्पणादि पुरश्चरण-विधान को उपर्युक्त ऋग्विधान के अनुसार संपन्न करने से अधीत सभी वेद मंत्र सिद्ध होकर फलदायक बन जाते हैं।

हमारी धीशक्ति के प्रचोदन के लिए गायत्री की प्रार्थना की जाती है, जो हमें मुक्ति की ओर प्रेरित करती है। हमारी कल्मषयुक्त बुद्धि क्रमश: शुद्ध होते हुए तीक्ष्ण होना जप का मूल उद्देश्य है। केवल जप-साधना अत्यंत विवृद्ध होने से ही बुद्धि परिशुद्ध होकर धन, संपत्ति जैसी अल्पतर अभिलाषाओं से विजय प्राप्तकर केवल अत्मश्रेय को अपना लक्ष्य बना लेती है। प्रथमत: गायत्री जपानुष्ठान के प्रारंभिक लाभ बुद्धि की परिशुद्धता पर विचार करेंगे, क्यों कि, आज के काल-मान में प्रारंभिक उपासना ही साध्यतर है। शास्त्रविहित प्रकार से नियमित गायत्री मंत्रानुष्ठान से मानव की बुद्धि अपनी चंचलता को नष्टकर एकाग्र हो जाती है, जो विषयों के अंतराल का विचार करने की तीक्ष्णता प्राप्त कर लेती है। किसी भी प्रकार की समस्या के परिहार में वह सशक्त होगा। यह बात साधक के अनुभव में अवश्य आयेगा।

गायत्री मंत्र के विषय में हमारा ज्ञान बहुत संकुचित है। जन-सामान्य गायत्री

को एक विशिष्ट देवी मात्र के रूप में जानते हैं। यह नहीं समझते कि, गायत्री उस मूला शाक्ति की द्योतक है, जिस की उपासना कौशिकी या दुर्गा के रूप में की जाती है। यह वही है, जिस की उपासना तांत्रिक विधि से काली, तारा, सुंदरी आदि के रूपों में लोग करते हैं। वैदिक गायत्री मंत्र सभी मंत्रों का आधार है। अन्य सभी मंत्र आधेय हैं। जिस प्रकार बिना आधार के कोई वस्तु स्थिर नहीं रह पाती, उसी तरह गायत्री मंत्र की समुचित धारणा के बिना अन्य किसी मंत्र की साधना पूर्णरूप से फलीभूत नहीं होती।

गायत्री महाशक्ति ही कुंडलिनी है, जो मधुर गुंजन करती हुई हम लोगों की रक्षा करती है।

ललिता सहस्रनाम स्तोत्र के अंतर्गत इन निम्न नामों के द्वारा मानव के शरीर के अंतर्गत षट्चक्रों में स्थित कुंडलिनी शक्ति का वर्णन किया गया है।

मूलाधाराम्बुजारूढा पञ्चवक्त्रास्थिसंस्थिता।

-ललितासहस्रनाम स्तोत्र।

यह पूर्वसंस्कारों के संग्रह से युक्त मूलाधार चक्र है।

स्वाधिष्ठानाम्बुजगता चतुर्वक्त्रमनोहरा।

यह पशुसहज गुणों का कोष स्वाधिष्ठान चक्र है।

मणिपूराब्जनिलया वदनत्रयसंयुता।

यह लौकिक सुखों के संग्रह से युक्त मणिपूर चक्र है।

अनाहताब्जनिलया श्यामाभा वदनद्वया।

उपर्युक्त तीनों चक्रों के पश्चात् नैतिक गुणों का भंडार यह अनाहतचक्र है।

विशुद्धचक्रनिलया रक्तवर्णा त्रिलोचना।

त्रिगुणों से युक्त उपर्युक्त चक्रों के परे सत्य, शिव और सुंदर का विकास इस विशुद्ध चक्र में होता है।

आज्ञाचक्राब्जनिलया शुक्लवर्णा षडानना।

यह आज्ञा चक्र है । यहाँ पर ज्ञान एवं प्रकाश होते हैं।

सहस्रदलपद्मस्था सर्ववर्णोपशोभिता।

यह सहस्रार चक्र है। कुंडलिनी का इस चक्र में पहुँचने पर विराट् रूपी देवी अर्थात् परमात्मा का दर्शन या ब्रह्मानंद की अनुभूति प्राप्त होती है।

यह सब योग-साधना के अंतर्गत कुंडलिनी के जागरण से संबंधित प्रक्रिया है। यह साधना अत्यंत कठिण एवं दीर्घकालीन होती है।

मानव देह के दक्षिण एवं वाम भाग के अंतर्गत इडा एवं पिंगला नाडियाँ समर्पक स्थिति में कार्य करते रहने से साधक के निरंतर प्रयत्न के फलस्वरूप मूलाधार
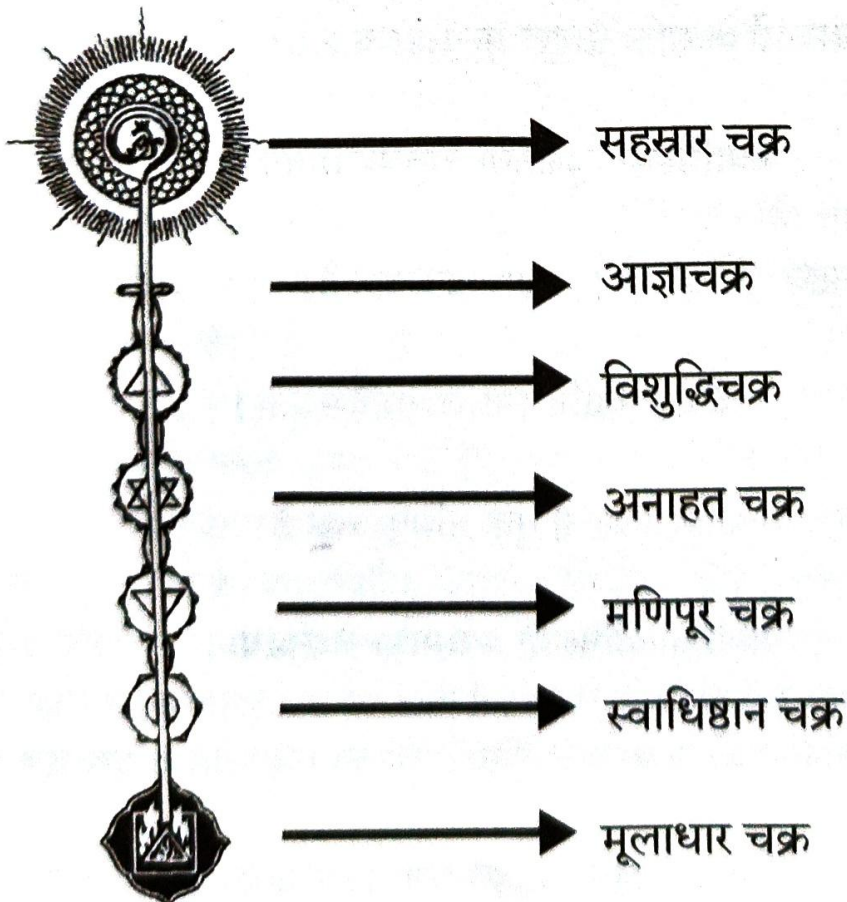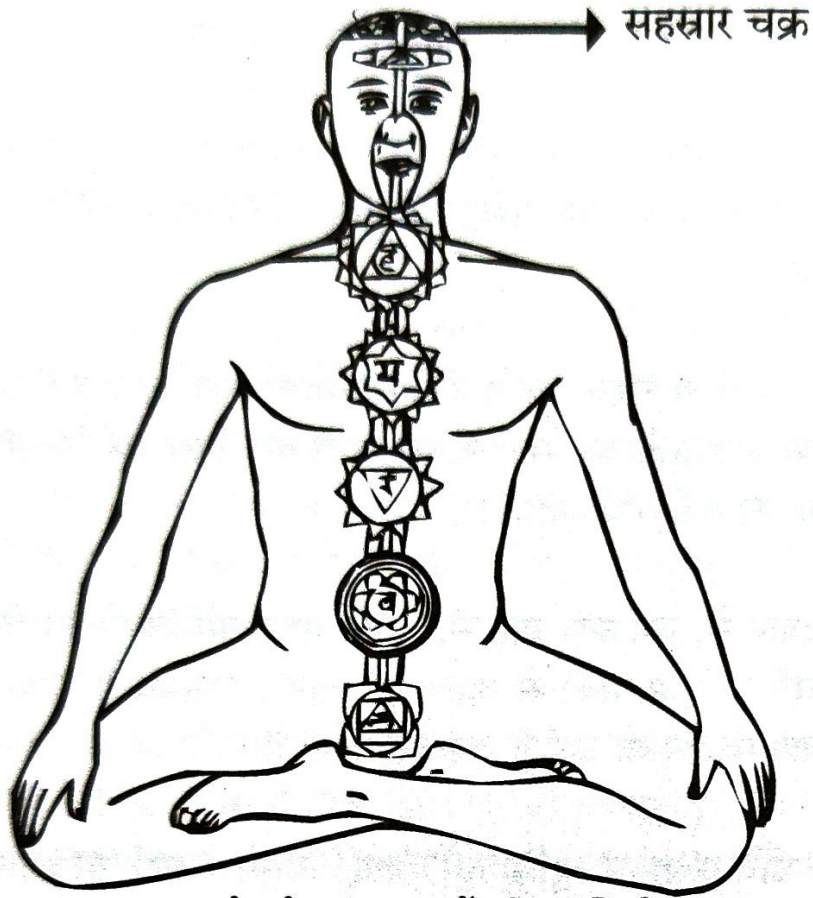
मानव देह के भीतर चक्रों की उपस्थिति

चक्र में स्थित कुंडलिनी शक्ति जागृत होकर सर्प के जैसे ऊपर की ओर बढने लगता है। कुंडलिनी का सहस्रार चक्र में पहुँचने पर आत्मानंद की अनुभूति होती है।

॥ मंत्रार्थ के विषय में कुछ बातें ॥

सामन्यतया संस्कृत भाषा के ज्ञाता को शास्त्रवाक्य, पुराण-श्लोक, रामायण अथवा महाभारत के श्लोक या कालिदासादियों द्वारा विरचित काव्य इत्यादियों का अर्थ सुलभतया अवगत हो जाता है। परंतु वेद के अंतर्गत मंत्रों का अर्थ समझ में नहीं अता है। क्यों कि, वैदिक व्याकरण संस्कृत व्याकरण से भिन्न है। वेद मंत्रों में संस्कृत शब्द ही होने के बावजूद वेद के अंतर्गत संस्कृत शब्दों का अर्थ संस्कृत शब्दार्थ से भिन्न होता है।

निरुक्त ग्रंथ के अनुसार वैदिक शब्दों के अर्थ को जानना होगा एवं सायणाचार्य आदि महामहिमों द्वारा विरचित वेद-भाष्य की सहायता से वेदार्थ को जानना होगा।

पराऽपर विभागेन मन्त्रार्थो द्विविध:स्मृत:।
अपरो धर्मसंज्ञ: स्यात् तत्परप्राप्तिसाधकम्।।

'पर' एवं 'अपर' - इस प्रकार 'मंत्र' का अर्थ दो प्रकारों में होता है। 'तत्' यानी 'उस' परमात्मा की प्राप्ति के विषय में 'पर' अर्थ होता है, तो 'अपर' अर्थ धर्म बोधक होता है।

वेद मंत्रों की भाष्यरचना करने वाले सायणाचार्य का कहना है कि, भाष्यार्थ के अलावा मंत्रो के उपासक को 'मंत्र' के अनुग्रह के रूप में जो अर्थ 'स्फुरित' होता है, वही उस मंत्र का सही अर्थ होता है।

शब्दज्ञान से, व्याकरण ज्ञान से, अपने भाषा-पांडित्य से या किसी ग्रंथ से अथवा किसी गुरु (आचार्य) से मंत्रार्थ को जानना असंभव है। तथापि लोक में प्रसिद्ध गायत्री मंत्र का जो अर्थ है, वह इस प्रकार है -

जो सविता हमारे बुद्धि को 'तत्' यानी 'उस' तत्वज्ञान के प्रति प्रेरित करता है, उस परमात्मा के श्रेष्ठ 'भर्ग' नामक तेज की हम उपासना करते हैं।

।। कैसे करें उपासना।।

विप्रो वृक्षस्तस्य मूलो हि सन्ध्या वेदा: शाखा धर्मकर्माणि पत्रा:।
तस्मान्मूलं यत्नतो रक्षणीयं छिन्ने मूले नैव शाखा न पर्णा:।।
दे. भा.११-१६-०६

विप्र (ब्राह्मण) एक वृक्ष है। संध्यावंदन ही उस वृक्ष की जडें हैं। वेद उस वृक्ष की शाखाएं हैं और धार्मिक कृत्य उस के पत्ते हैं। अत: यत्नपूर्वक जड की रक्षा करनी चाहिए। यदि जड़ें ही कट जायें तो न वृक्ष रहेगा और न शाखा ही।

या सन्ध्या सैव गायत्री सच्चिदानन्दरूपिणी।
भक्त्या तां ब्राह्मणो नित्यं पूजयेच्च नमेत्तत:।।

संध्या ही गायत्री है, जिस का ब्राह्मण को (प्रातः, मध्याह्न, सायं) तीनों सन्ध्याकालों में उपासना करनी चाहिए।

सूतके मृतके वापि सन्ध्याकर्म न संत्यजेत्।
मनसोच्चारयन् मन्त्रान् प्राणायाममृते द्विजः ।।

अपने घर में यदि किसी की मृत्यु के कारण सूतक रहता है, उस समय भी मन में मंत्रों का मनन करते हुए संध्याविधि संपन्न करनी चाहिए। इस प्रकार सभी शास्त्रग्रंथों में संध्यावन्दन की अत्यावश्यकता को स्पष्टतया बताया गया है। शास्त्रकारों ने यह भी कहा है कि, यदि कोई व्यक्ति अस्वस्थता के कारण या मतिभ्रष्टता इत्यादि मानसिक अस्वास्थ्य से पीडित है या अन्य कारणों से संध्यावंदन करने में असमर्थ है, तो उस के पिता, पुत्र या अन्य कोई उस के बदले में संध्यानुष्ठान करें।

इस प्रकार शास्त्रों में विहित संध्यानुष्ठान ही गायत्री उपासना है, जिसे यदि हम करना नहीं चाहते हैं तो भी करनी ही चाहिए। इस का तात्पर्य यह हुआ कि, प्रत्येक ब्राह्मण को अनिवार्यतया संध्यावंदन के द्वारा गायत्री उपासना करनी ही चाहिए।

सन्ध्यातिक्रमणं यस्य सप्तरात्रमविच्युतम्।
उन्मत्तदोषयुक्तो वा पुनः संस्कारमर्हति ।।

देवी भागवत.११-१६-०६

सात दिवस या उस से अधिक समय पर्यंत जो ब्राह्मण संध्यानुष्ठान (किसी भी कारण से) नहीं करता है, उसे पुनः उपनयन संस्कार करना चाहिये और पुनः गायत्री उपदेश प्रदान करना चाहिए। (यह पुनः उपनयन का विधान प्रायश्चित्त से युक्त एवं संक्षिप्त में होता है।)

सन्ध्या येन न विज्ञाता सन्ध्या येनानुपासिता।
जीवमानो भवेच्छूद्रो मृतःश्वा चैव जायते ।।

दे.भा.११-१६-०७

जो ब्राह्मण संध्यानुष्ठान नहीं करता है, वह जीवित रहते हुए ही कुत्ते के शव के समान अशुद्ध बन जाता है।

प्रातः, मध्यान्ह एवं सायंकाल के संध्यानुष्ठानों में सहस्र गायत्री जप करना उत्तम माना गया है।

प्रणवाद्यं गृहस्थानां तच्छून्यं निष्फलं भवेत्।
आद्यन्तयोर्वनस्थानां यतीनां महतामपि ॥

दे.भा.११-१६-४०

गायत्री के आदि में एक बार प्रणवोच्चार के साथ जप करने का नियम ब्रह्मचारी एवं गृहस्थों को है और आदि एवं अंत में एक-एक यानी दो प्रणवों से संपुटित गायत्री वानप्रस्थी तथा सन्यासी जप करते हैं।

तत्सवितुर्वरेण्यं....यह तो एक सामान्य गायत्री छंद का मंत्र है, जिस में ८ अक्षरों के तीन पाद एवं कुल २४ अक्षर हैं। इस प्रकार के २४ अक्षरों से युक्त गायत्री छंद के मंत्र वेद में ३,००० से भी अधिक हैं, जो सभी के सभी आठ-आठ अक्षरों के तीन पादों से युक्त हैं। इसी तरह उष्णिक् छंद (२८ अक्षर) अनुष्टुप् छंद (३२ अक्षर) अतिधृति छंद (७६ अक्षर) - इस प्रकार के २० से भी अधिक छंदों के एक लाख मंत्र वेद में होने के बावजूद 'तत्सवितुः.....' इस मंत्र को ही क्यों प्रधानता दी गयी है और उस के आदि में प्रणव (ॐ) तथा व्याहृतित्रय (भूः, भुवः, स्वः) को जोडकर जपने का विधान क्यों बनाया गया है, यह कुतूहलकारक एवं अध्ययनयोग्य विषय है।

दिन की तीनों संध्याओं में गायत्री मंत्र को शास्त्रोक्त विधान से जपना ही गायत्री उपासना का विधान है, जिसे नहीं करने से ब्राह्मण अपने ब्रह्मत्व को खो देता है।

उत्तमा तारकोपेता..... प्रातःकाल में आकाश में तारे रहते हुए ही पूर्वाभिमुख खडा रहकर दाहिने हाथ को अपने नाभिप्रदेश के समान रखकर सूर्योदय पर्यंत जप करना चाहिए। मद्यान्ह में पूर्वाभिमुख पद्मासन पर आसीन होकर यथाशक्ति जप करें और सायंकाल में सूर्यास्त से पूर्व ही जप को प्रारंभकर आकाश में तारों का दर्शन होने पर जप को स्थगित करें। सायंकालीन जपानुष्ठान करते समय पद्मासन पर पश्चिमाभिमुख आसीन होकर दाहिने हाथ को अपने मुख के समान स्थापित कर जप करें तथा मध्यान्ह के समय में अपने हाथ को हृदय के समान स्थापितकर जप करें।

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमर्कदर्शनात्।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्ष विभावनात्॥

मनुस्मृति - २-१०

प्रातःकाल में खड़े होकर, सायंकाल में आसनपर बैठेहुए जप करने का नियम है।

पञ्चावसानां गायत्रीं जपेन्नित्यमतन्द्रितः।

जप करते समय गायत्री को पांच भागों में विभजितकर जप करें। जैसे-

१) ॐ,
२) भूर्भुवःस्वः,
३) तत्सवितुर्वरेण्यं,
४) भर्गोदेवस्य धीमहि,
५) धियो यो नः प्रचोदयात्।

-इस प्रकार गायत्री को सावधानी से पांचों स्थानों पर विराम के साथ जप करने का नियम है।

भिन्नपादा तु गायत्री ब्रह्महत्या प्रणाशिनी।
अभिन्नपादा गायत्री ब्रह्महत्या प्रयच्छति॥
अच्छिन्नपादा गायत्री जपं कुर्वन्ति ये द्विजाः।
अधोमुखाश्च तिष्ठन्ति कल्पकोटि शतानि च॥

दे.भा. ११-१७-३, ४

जप करते समय मंत्र के प्रत्येक पाद को अलग-अलग पठन करें। क्यों कि, पादच्छेद किये बिना किया गया जप ब्रह्महत्या का दोष देता है। अतः उपर्युक्त प्रकार से पांच अवसानों से युक्त गायत्री का जप करें।

वाचिक, उपांशु और मानसिक - इस प्रकार जप करने के तीन प्रकार हैं।

१) वाचिक जप :- जो उच्चस्वर में स्वयं को एवं अन्यों को भी मंत्र सुनने में आयें ऐसे किये जानेवाले मंत्रपठन को वाचिक जप कहते हैं।

२) उपांशु जप - केवल स्वयं को ही सुनने में आए, परंतु अन्यों को सुनाई न दे तथा केवल होंठों की चेष्टा हो - ऐसे क्षीण-स्वर में किये जानेवाला जप उपांशु जप कहलाता है।

३) मानसिक जप :- मंत्र स्वयं को भी सुनने में न आए एवं होंठों की चेष्टा भी न हो, परंतु मन में सस्वर-मंत्र का मनन एवं मंत्र के अर्थ का चिंतन हो - एसा जप मानसिक जप कहलाता है।

उच्चैर्जपोऽधम:प्रोक्तो नीचैर्वा मध्यम:स्मृत:।
उत्तमो मानसो देवी त्रिविध:कथितो जप:।।

वाचिक जप को अधम, उपांशु जप को मध्यम और मानसिक जप को उत्तम जप-विधान कहा गया है।

गायत्री निर्गुण, निराकार परमात्मा होने के बावजूद मंत्रानुष्ठान के आरंभ में गायत्रीदेवी के सगुण-रूप का ध्यान इसलिए किया जाता है कि, जप करते समय मन में उस देवी के रूप (चित्र) को स्थापित कर सकें। जपानुष्ठान के प्रारंभिक दो-तीन वर्षों तक केवल सगुण चिंतन ही संभव है। नियमित रूप से दो या तीन वर्षों तक जप करने पर मंत्र-जप में मन लग्न होने लगता है। प्रारंभिक दशा में मन की चंचलता के कारण गायत्री जप (मानसिक जप), सगुण रूप का चिंतन, जप में एकाग्रता इत्यादि अत्यंत कठिन लगते हैं, परंतु निरंतर प्रयत्न करते रहने से दो वर्षों की अवधि में इन सब का अभ्यास बन जाता है।

एकाग्रता प्राप्त करने में सहायक प्रक्रियाओं का प्रयोग करना चाहिए। दीर्घ श्वास-प्रश्वास या शास्त्रोक्त प्राणायाम-विधान से मन स्वस्थ एवं शांत होकर एकाग्र बन जाता है और गायत्री देवी के भावचित्र को सामने रख कर उस चित्र को बार बार देखते हुए जप करना जप की एकाग्रता में सहकारक बन सकता है। जप की गणना करने के लिए 'अक्षमाला' का उपयोग भी अत्यंत फलदायक एवं एकाग्रता प्राप्त करने में सहकारक है। गायत्री देवी को 'अक्षमाला-धारिणी' कहा जाता है।

संस्कृत वर्णमाला में **अ, आ, इ, ई** -इत्यादि १५ स्वराक्षर, **क, ख, ग**- इत्यादि २५ वर्गीय व्यंजन एवं **य, र, ल, व**- आदि क्ष पर्यन्त १० अवर्गीय व्यंजन इस प्रकार **'अ'** से **'क्ष'** पर्यंत के इन ५० वर्णों की वर्णमाला ही अक्षमाला है। जप करते समय जप-संख्या की गणना हेतु यह अक्षमाला का उपयोग विहित है। जप-संख्या की गणना के लिए १०८ मणियों से युक्त रुद्राक्ष-माला, तुलसी माला या हाथ के उपयोग के बदले में उपर्युक्त अक्षमाला का उपयोग करना चाहिए।

ॐ भूर्भुव:स्व:। तत्सवतुर्व........ **अं**
ॐ भूर्भुव:स्व:। तत्सवतुर्व........ **आं**
ॐ भूर्भुव:स्व:। तत्सवतुर्व........ **इं**
ॐ भूर्भुव:स्व:। तत्सवतुर्व........ **ईं**

इस प्रकार **'अ'** से **'क्ष'** पर्यंत ५० संपन्न होने पर विलोम पद्धति से **'क्ष'** से **'अ'** पर्यंत ५० संपन्न करना चाहिए। जैसे...

ॐ भूर्भुव:स्व:। तत्सवतुर्व........ **क्षं**
ॐ भूर्भुव:स्व:। तत्सवतुर्व........ **ळं**
ॐ भूर्भुव:स्व:। तत्सवतुर्व........ **हं**
ॐ भूर्भुव:स्व:। तत्सवतुर्व........ **सं**

- इस प्रकार अक्षमाला के अनुलोम-विलोम से १०० की संख्या पूर्ण होती है। तदुपरांत **अं, कं, चं, टं, तं, पं, यं, ॐ**- इन आठ अक्षरों के आवर्तन करने से १०८ की संख्या परिपूर्ण हो जाती है।

मुद्रा: आपस्तम्बीय एवं कुछ अन्य वर्गों में जप प्रारंभ करने से पूर्व मुद्राओं का प्रदर्शन भी होता है।

सुमुखं सम्पुटं चैव विततं विस्तृतं तथा।
द्विमुखं त्रिमुखं चैव चतु:पंचमुखं तथा।।
षणमुखोऽधोमुखं चैव व्यापिकांजलिकं तथा।
शकटं यमपाशं च ग्रथितं सन्मुखोन्मुखम्।।
प्रलम्बं मुष्टिकं चैव मत्स्य:कूर्मो वराहकम्।

सिंहाक्रान्तं महाक्रान्तं मुद्गरं पल्लवं तथा ।।
इति मुद्रा न जानाति गायत्री निष्फला भवेत् ।
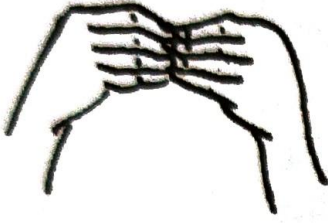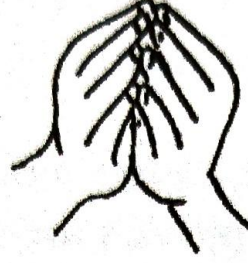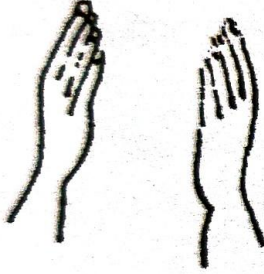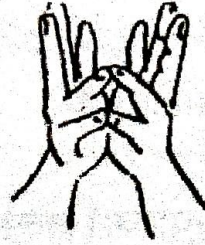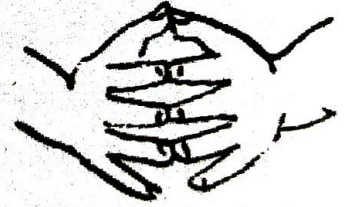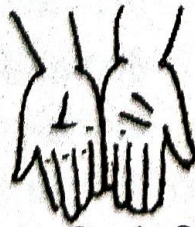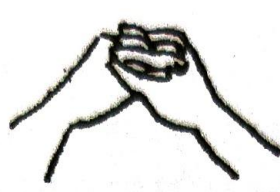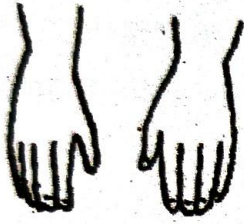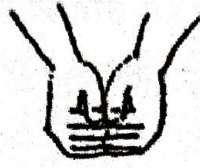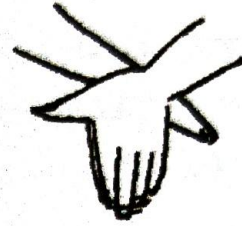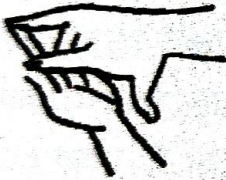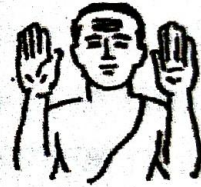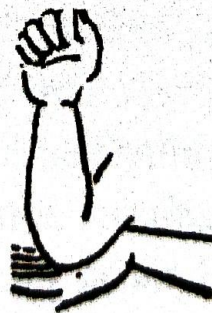
इन मुद्राओं का विधान किन्ही संध्या-विधियों में है। विभिन्न प्रांतों के विभिन्न विधियों में इन २४ मुद्राओं में भी विविधता देखने को मिलती है।

॥ नाम-मंत्र-जप तथा एकाग्रता ॥

मर्कट के जैसे चंचल मन का निग्रह अत्यंत कष्टसाध्य है। अत एव उपासना की प्रारंभिक दशा में बालकों को एवं बालिकाओं को भगवन्नाम का उच्चार करवाने में हमारे पूर्वज जोर देते थे। जिस का मन बहुत चंचल हो, उसे श्वास-प्रश्वासों के साथ नामोच्चारण करवाने से बुद्धि स्थिर हो जाती है। उदाहरण हेतु श्वास को अंदर लेते समय 'ॐ नमो नारायणाय' एवं श्वास को बाहर छोडते समय 'ॐ नमः शिवाय' इस प्रकार उन नामों का चिंतन करते रहने से एकाग्रता का अभ्यास बन जाता है। अपने बच्चों को बाल्य अवस्था में ही इस तरह किसी भगवन्नाम को श्वास-प्रश्वास के साथ जोडकर मन-प्रवाह को निग्रहित करने का अभ्यास करवाना अत्यंत लाभकारक होगा।

जिन नामों के अथवा मंत्रों के उच्चार से कम्पन तरंगों के कारण मस्तिष्क के कोष विकसित होते हैं, वे श्रेष्ठ मंत्र या नाम माने जाते हैं। **अष्टौ स्थानानि वर्णानाम्।** अ, आ, इ -इत्यादि सभी वर्ण मानव के मुख के आठ स्थानों से उत्पन्न होते हैं। जैसे- **अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः।** अ, क, ख, ग, घ, ङ, अः - ये सभी अक्षर कण्ठ से उत्पन्न होते हैं। **इचुयशानां तालु।** इ, च, छ, ज, झ, य - ये तालु से उत्पन्न होने वाले वर्ण हैं। **ऋटुरषाणां मूर्धा।** ऋ, ट, ठ, ड, ढ, ण, ष - ये मूर्धा से उत्पन्न होते हैं। **लृतुलसानां दन्ताः। उपोध्मानीयानां ओष्ठौ** - इत्यादि।

ऋ, ट, ठ, ड, ढ, ण, ष - इन अक्षरों को उच्चार करते समय मूर्धास्थान में कंपन उत्पन्न होने के कारण इन अक्षरों को 'मूर्धन्य' अक्षर कहते हैं। वक्षस्थल एवं नाभिदेश में स्थित नाडियों में कंपन उत्पन्न होने के लिए कण्ठ एवं होंठों से उत्पन्न होनेवाले अक्षरों का उच्चार अधिक होना आवश्यक है। इसीलिए ' **ॐ, श्रीराम, हरिॐ**- इत्यादि नामों को अधिकतर उच्चार करवाया जाता है, जो कण्ठ्य एवं ओष्ठ अक्षरों से युक्त हैं। **'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।'** - इस भजन को इसलिए अधिक महत्व दिया गया है, कि इस में अधिकतर मूर्धन्य अक्षर (वर्ण) उपस्थित हैं। मूधन्य वर्णों के बार - बार उच्चार करने से मस्तिष्क में अधिक कंपन उत्पन्न होकर आनंद की अनुभूति होती है।

यह तो नामस्मरण या भजन की बात हुई। वैदिक मंत्रों के सस्वर पठन से भी इसी तरह के परिणाम समुत्पन्न होते हैं। प्रत्येक वैदिक कर्म के प्रारंभ में, स्नान के

पश्चात्, भोजन के पश्चात्, पूजा के प्रारंभ में - इस तरह पुन:-पुन: आचमन करने का नियम है। उस आचमन की विधि में स्थित **ॐ केशवाय नमः** - इत्यादि नामों के उच्चार के साथ एक-एक मासा जल पीने के कारण मनो-दैहिक शुद्धता के साथ कण्ठ में स्थित ध्वनिपेटिका स्वस्थ होती है एवं कण्ठ और ध्वनि से संबंधित कोई भी अस्वस्थता नहीं होती हैं।*

---

* Two eniment scientists Dr. Robert Wallace and Dr. Herbert Benson attached to Harward medical school after a series of researches have found that constant repetations of mantra with slight meditation produces a sort of wakeful rest which does immense good to ones nerves, heart and lungs.

- Dr. R Shrinivasan,
scientist, NGRI, Hyderabad

।। तीन व्याहृति एवं गायत्री मंत्रार्थ ।।

भूः, भुवः, स्वः। गायत्री मंत्र इन तीन व्याहृतियों से संयुक्त है।

भूरित्येव हि ऋग्वेदो भुव इति यजुस्तथा ।
स्वरिति सामवेदो हि प्रणवो भूर्भुवःस्वः ।।

'भूः' ऋग्वेद स्वरूप है, 'भुवः' यजुर्वेद तथा 'स्वः' सामवेदस्वरूपी है। प्रणव ही ये व्याहृति यानी प्रणव का विस्तृत रूप ही ये व्याहृतियाँ हैं।

भूर्भुवःस्वस्तथापूर्वं स्वयमेव स्वयंभुवा ।
व्याहृता ज्ञानदेहेन तेन व्याहृतयःस्मृताः ।।

सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी ने सृष्टिकार्य से पूर्व अपने ज्ञानदेह से इन तीन व्याहृतियों का उच्चार किया। इस प्रकार ब्रह्माजी द्वारा उच्चरित (व्याहृत) होने के कारण इन्हे व्याहृति कहा जाता है।

भूरादयस्त्रयो लोका आदरात् कथितं पुनः।
एतत्सर्वं ब्रह्मरूपमितिवक्तं शिरस्यपि ।।

भूम्यादि त्रिलोकों के संकेत के रूप में इन व्याहृतियों को गायत्री मंत्र के आदि में जोडा गया है। दृश्य एवं अदृश्य लोक सभी ब्रह्मरूप ही होने के संकेत में गायत्रीशिर के अंत में (ॐआपोजेतीरसोमृतं ब्रह्मभूर्भुवःस्वः...) पुनः जोडा गया है।

आध्यात्मवादी इन व्याहृतियों को सत्, चित्, आनंद के स्वरूप मानते हैं। गायत्री के तीन पाद भी सत्, चित्, आनंदस्वरूप ही हैं।

प्रधानपुरुषःकालो ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
सत्वं रजस्तमास्तिस्रःक्रमात् व्याहृतयःस्मृताः।।

कूर्मपुराण।

प्रधानपुरुष, काल, ब्रह्म, विष्णु, महेश्वर, सत्व, रज, तम- ये सभी क्रमशः व्याहृति बने हैं।

॥ भूः ॥

भूरिति वा अयं लोकः। भूरिति वा अग्निः।
भूरिति वै प्राणः। भूरिति वा ऋचः।

तैत्तरीयोपनिषत्।

यजुर्वेद के तैत्तरीयोपनिषत् में प्रथम व्याहृति 'भूः' को भूलोक, अग्नि, प्राण तथा ऋग्वेद कहा गया है। 'भूः' का अर्थ है सृष्टि। क्यों कि, ब्रह्माजी ने 'भूः' कहते हुए भूलोक को सृजित किया। तेजोमय या ज्योतिस्वरूपी 'अग्नि' को भी ब्रह्माजी ने 'भू' व्याहृति का उच्चार करते हुए सृजित किया। यह व्याहृति प्राणस्वरूपी है। 'प्राणयति प्राणिनः, इति प्राणः' अर्थवेद में कहा गया है कि, प्राण ही परमात्मा है, जिस के आश्रय में ब्रह्माण्ड है।

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं प्रयोभूतः सर्वेश्वरो यस्मिन् सर्गं प्रतिष्ठितम्।

उस प्राण को नमस्कार है, जिस का यह सर्वस्व है, जो सर्वेश्वर है, जिस में (सर्ग) सृष्टि प्रतिष्ठित है।

शरीर में प्राणपंचक के साथ ब्रह्मरूपी आत्मा भी है, जिस के साक्षात्कार के लिए मानव तपता है। उस आत्मा का अनुसंधान इस 'भूः' व्याहृति से होता है।

॥ भुवः॥

भुव इत्यन्तरिक्षम्। भुव इति वायुः।
भुव इति सामानि। भुव इत्यपानः।

तैत्तरीयोपनिषत्।

'भुवः' व्याहृति अंतरिक्ष, वायु, सामवेद तथा अपानस्वरूपी है। ब्रह्मपुराण में व्याहृति-उपासना के विषय में तैत्तरीय उपनिषत् के इन उपर्युक्त वचनों को ही दोहराया गया है। 'भुवः' को अंतरिक्ष कहकर उस के द्वारा अंतरिक्ष-संबंधी सुख प्राप्त करने के लिए संकेतित किया गया है और इसे 'अपान' कहा गया है, जो शरीर रक्षक रहकर शरीर में प्राण की उपस्थिति के लिए अत्यावश्यक है। 'अपान' शब्द को ईश्वर के अर्थ में भी प्रयुक्त किया जाता है।

यो मुमुक्षूणां स्वसेवकानां धर्मात्मनां सर्वदुःखमपानयति, सोऽपानः।

मानव शरीर में अपान-वायु के सुस्थिति में रहने से उदरसंबंधी कोई विकार नहीं होते हैं। इस व्याहृति के सम्यक् उच्चार से शरीर में अपान की वृद्धि होती है।

अपानात् कर्षति प्राणोऽपानः प्राणाच्च कर्षति ।

अपान प्राण को तथा प्राण अपान को परस्पर आकर्षित करते हैं। यह क्रिया योगाभ्यास से संबंधित है, जो भौतिक बाधाओं को दूर करती है।

॥ स्वः॥

तीसरा व्याहृति परब्रह्म का प्रतीक 'स्वः' है, जिस का अर्थ सुख या आनंद है।

सुवरित्यसौ लोकः। सुवरित्यादित्यः।
सुवरिति यजूंषि । सुवरिति व्यानः।

तैत्तरीयोपनिषत् ।

'स्वः' व्याहृति स्वर्गलोक, आदित्य, यजुर्वेद तथा व्यानस्वरूपी है। निरंतर चेष्टा (क्रिया) शीलता को भी 'व्यान' कहते हैं। **'व्यानः सर्व शरीरगः'** व्यानवायु संपूर्ण शरीर में व्याप्त है, जिस से शरीर चेष्टाशील रहता है।

यदभिव्याप्य ध्यानयति, चेष्टयति प्राणादि सकलं जगत् स व्यानः।
सर्वाधिष्ठानं बृहत् ब्रह्मेति खल्वयं स्वशब्दार्थोऽस्तीति मन्तव्यम् ॥

समग्र विश्व में व्याप्त रहते हुए जीवों को क्रियाशील करते हुए सकलाधिष्ठाता जो बृहत् ब्रह्म है, वही 'स्व:' शब्द का अर्थ है।

व्यानवायु के व्यवस्थित संचार से मानव प्रसन्नचित्त रहता है। इस 'स्व:' व्याहृति का अधिपति चन्द्र है, जिसे सोम भी कहते हैं। सौम्य (सत्व) गुण का समावेश चंद्र में ही होता है। अत: इस व्याहृति की उपासना से 'सात्विकता' मिलती है।

इस प्रकार भूमि, अंतरिक्ष तथा स्वर्ग में एवं अग्नि, वायु तथा सूर्य में एवं प्राण, अपान, व्यान एवं ऋक्, यजु, साम वेदों में सत्, चित्, आनंदरूपी परमात्मा ही व्याप्त रहने के कारण उन तत्वों से युक्त तीन व्याहृतियों को गायत्री के आदि में जोडकर उपासना करने का विधान है।

॥ गायत्री मंत्रार्थ ॥

तत्। सवितु:। वरेण्यं। भर्ग:। देवस्य। धीमहि। धिय:। य:। न:। प्रचोदयात्॥

॥ तत् ॥

गायत्री का पहला शब्द 'तत्' है, जिस का सामान्य अर्थ 'वह' है। शास्त्रनिर्णय है कि, यह शब्द परब्रह्मवाचक है। गीता में अर्जुन को संबोधित करते हुए भगवान् ने कहा है कि,

तत् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन: ॥

भगवद्गीता - ४-२४

'तत्' को जानने वाले यानी परमात्मा को जानने वाले ज्ञानीपुरुषों से भलीप्रकार दंडवत् प्रणाम तथा सेवा तथा निष्कपट भाव से किये हुए प्रश्न द्वारा उस (तत्) ज्ञान को प्राप्त करो। वे मर्म को जानने वाले ज्ञानीजन तुम्हे 'उस्' ज्ञान का उपदेश करेंगे।

ॐ, तत्, सत्, इति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविध:स्मृत:।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिता:पुरा ॥
भगवद्गीता - १७-२३

ॐ, तत्, सत्- ऐसे (यह) तीन प्रकार का सच्चिदानंदघन ब्रह्म का नाम है। उसी से सृष्टि के समय में ब्राह्मण, वेद, यज्ञ आदि सभी वस्तुएँ उत्पन्न हुई हैं।

तत् द्वितीयैकवचनमनेनाखिल वस्तुन:।
सृष्ट्यादि कारणं तेज: रूपमादित्यमण्डले ॥
प्रपंचसारतंत्र।

सूर्य के अंतर्गत ज्योति, जो सभी प्रकार के वस्तुओं की सृष्टि का कारण है, वह परमात्मा ही इस द्वितीया विभक्ति, एकवचन के अंतर्गत तत् शब्द का अर्थ है।

हृदयी स्फूर्तिरूपे जी स्फुरली,
ती आम्ही तत् रूपे पाजळली।
श्री मार्तण्ड माणिकप्रभु महाराज।

हृदय में स्फूर्ति के रूप में स्फुरित जो आत्मा है, जिसे हम अंतरात्मा या परमात्मा कहते हैं, वही 'तत्' के रूप में प्रकाशमान हुआ है, प्रकट हुआ है।

॥ सवितु:॥

'सवितु:' गायत्री का द्वितीय शब्द है, जिस के अर्थ को अनेक महामहिमों ने अनेक प्रकारों से वर्णित किया है।

सवितु: जगतां प्रसवितु:सविता वै प्रसवानामीशे।
उत्तमेर्चिषे प्रसवस्य स्वमेक: इत्यादि श्रुते:॥

सविता ने ही जगत् को सृजित किया है तथा उत्पन्न सभी वस्तओं के अधीश्वर भी वही हैं। हे सवितृदेव, आप सृष्टि के कारकों में अग्रगण्य हो, इत्यादि वाक्यों से

श्रुति में सविता की स्तुति की गई है।

य एष आदित्य: हिरणमय: पुरुषो दृश्यते,
हिरण्यश्मश्रु:हिरण्य अप्रायात् सर्व एव सुवर्णा ।

छान्दोग्य उपनिषत् ।

आदित्य मंडल में जो हिरण्मय पुरुष भासमान होता है, उस के सभी अवयव भी सुवर्णमय ही हैं। सवितृदेव प्राणियों की प्रेरणा के रूप में, उन के अंतर्यामी के रूप में, विज्ञान के रूप में, आनंद के रूप में हिरण्यगर्भ रूप के उपाधियुक्त हैं।

नम:सवित्रे जगदेकचक्षुषे जगत्प्रसूतिस्थितिनाश हेतवे ।
त्रयीमयाय त्रिगुणात्मधारिणे विरिंचिनारायणशङ्करात्मने ।।

जो समग्र विश्व का एकमात्र चक्षु (नेत्र) है, जो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार का कारक है, जो वेदत्रयस्वरूपी है, उस ब्रह्म - विष्णु- शिवात्मक सविता को नमस्कार है।

सविता वै प्रसवानामीशे ।

यजुर्वेद ।

सविता उत्पन्न सकल चर-अचर वस्तुओं के एकमात्र अधिपति हैं।

धातोरिहविनिष्पन्नं प्राणप्रसववाचकात् ।
सर्वासां प्राणिजातीनां इतिप्रसवितु:सदा ।।

प्रपंचसारतंत्र ।

वह सविता ही सकल जीवों का सृष्टिकारक ब्रह्म है। उसी से सभी जीव सृजित होने के कारण वह सवतृ कहलाता है।

यो देव:सवितास्माकं धियोधर्माधिगोचरे ।
प्रेरयेत्तस्य यद्भर्ग: तद्वरेण्यमुपास्महे ।।

सविता के जो वरणीय(श्रेष्ठ) भर्ग नामक तेज की हम उपासना करते हैं, जो हमारी धीशक्ति को धर्म के प्रति प्रेरित करता है।

।। वरेण्यम् ।।

वरेण्यं सर्वतेजोभ्य:श्रेष्ठं वै परमं पदम् ।
स्वर्गापवर्गकामैर्वा वरणीयं सदैव हि ।

वराहमिहिर बृहज्जातक।

जो सभी प्रकार के तेजों से संपन्न श्रेष्ठ परमविद्या है, जो स्वर्ग तथा अपवर्ग की कामना से वरणीय अर्थात् स्वीकार करने योग्य है, वह वरेण्य है। दु:खनाशक, नित्य सुखदायक ब्रह्म के संकेत में वरेण्य शब्द का उपयोग होता है।

अन्तर्गतं महत्तेजो वरणीयं यदात्मभि:।
ध्यायेत्तत्त्वं सदासत्यं सर्वव्यापी सनातनम्।।

सत्यस्वरूपी, सर्वव्यापक, सनातन पुरुष तेजोमंडल में स्थित है। वह 'वरणीय' यानी उपासना के लक्ष्य के रूप में 'स्वीकारार्ह' है।

वरणीयं च यो नित्यं संसार भयभीरुभि:।
आदित्यान्तर्गतं यच्च भर्गाख्यं वै मुमुक्षुभि:।।

जनन-मरणरूपी संसार के भय से मोक्ष की ओर आकर्षित लोग (मुमुक्षु) ओं से सूर्यमंडल के अंतर्गत भर्ग नामक तेज वरणीय यानी स्वीकार करने योग्य है।

।। भर्ग: ।।

भर्ग अज्ञान नाशक अंधकार अथवा पापनाशक के अर्थ में है। भृज् धातु से भर्जन, भंजन, आमर्दन के अर्थ इस शब्द में हैं। अज्ञान, अंधकारनाशन इस का तात्पर्य है।

यो भर्गः सर्वसाक्षी च मनो बुद्धीन्द्रियाणि च ।
धर्मार्थकाम मोक्षेषु प्रेरयेत् विनियोजयेत् ।।
भेति भासयते लोकान् रेति रंजयते प्रजाः ।
ग इत्याच्छतेजसं भरणात् भर्गउच्यते ।।

याज्ञवल्क्य।

सभी लोकों को प्रकाशित (भासित) करने के कारण 'भ', जीवों को रंजित करने के कारण 'र' तथा लय करने के कारण 'ग' इस प्रकार परब्रह्म ही 'भर्ग' कहलाता है।

।। देवस्य ।।

'दीव्यतीति देवः'। प्रकाशयुक्त दिव्यतासंपन्न को 'देव' कहते हैं।

सर्वप्रकाशक अखण्ड आत्मा देवपदवाच्यः।

आदि शंकराचार्य।

'देवस्य' यह शब्द 'देव' शब्द का ही षष्ठी एवचन रूप है, जिस का अर्थ 'देवता का' अथवा 'देव का' है।

दीव्यते क्रीडते यस्मादुच्चते शोभते दिवि।
तस्मात् देव इतिप्रोक्तःस्तूयते सर्वदेवतैः।।

प्रकाशमान तथा कलायुक्त होने के कारण सविता को देव कहा गया है।

।। धीमहि ।।

'दै' धातु से 'चिंतन' के अर्थ में यह शब्द है। प्रेम-भक्तिपूर्वक परमात्मविषयक चिंतन अथवा ध्यान ही 'धीमहि' शब्द का भावार्थ है।

धीमहि चिन्तायां निगमनिरुक्तविद्यारूपेण चक्षुषा ।
योऽसावादित्यो हिरण्मय:पुरुष:सोऽहमिति चिन्तयामि ।।

'निगम, निरुक्त आँखों से आदित्य के भीतर स्थित हिरण्मय पुरुष को देख रहा हूँ, वह पुरुष (ब्रह्म) मैं ही हूँ' - इस प्रकार का चिंतन ही 'धीमहि' है। जीवात्मा-परमात्माओं में अभेदता, अहं ब्रह्मास्मि (मी सांब) - यह चिंतन धीमहि शब्द का अर्थ है।

धीमहि तद्योहं सोऽसौ योऽसौ सोहमिति वयं ध्यायेम ।

अंत:करण इन्द्रियों की परवशता से भौतिक विलासों में मग्न रहता है। फलस्वरूप मन की शांति नष्ट होकर अधोगति-चक्र में फिर रहा होता है। मन को एक ही ध्येय वस्तुपर निश्चल करने पर स्थिरता प्राप्त करना संभव है।

।। धिय:।।

यह शब्द प्रज्ञा, बुद्धि के अर्थ में है । सायणाचार्य कहते है कि, 'धिय:' शब्द बुद्धिवाचक, कर्मवाचक तथा वाणीवाचक है।

धिय:शब्दो बुद्धिवचनो कर्मवचनो वा वाग्वचनो वा ।

जिसे विषयों को धारण करने की शक्ति है, वह बुद्धि है ।

आत्मसंस्थं मन:कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ।।
भगवद्गीता- ६-२५

धीरे धीरे अभ्यास करने पर बुद्धि स्थिर होती है ।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धि:सा पार्थ सात्विकी ।।
भगवद्गीता ।

सत्कर्माचरण हेतु, धर्म-अधर्म, कार्य-अकार्य जानने हेतु बुद्धि का सात्विक होना अत्यावश्यक है।

।। यः।।

'यः' शब्द का वास्तविक अर्थ 'जो' है। परंतु गायत्री के अंतर्गत 'यः' शब्द परमात्मा को संकेतित करता है।

।। नः।।

गायत्री में प्रयुक्त 'नः' शब्द व्यापक अर्थ में रहकर विश्वकल्याण को संकेतित करता है। **'वसुधैव कुटुम्बकम्'**। **'लोका:समस्ता:सुखिनो भवन्तु'**- इत्यादि विशाल अर्थ देता है। महीधराचार्य ने 'नः' शब्द को 'अस्माकं, अस्मदीयां' के अर्थ को प्रतिपादित किया है। 'नः' शब्द का सामान्य अर्थ 'हमारा' है। जापक केवल अपने श्रेय के अलावा 'हमारा' यानी मानव-जाति की बुद्धि की प्रचोदना की प्रार्थना करता है।

।। प्रचोदयात् ।।

गायत्री के अंतिम शब्द प्रेरणार्थ में है। 'चुद् प्रेरणे' धातु से यह शब्द निष्पन्न हुआ है। 'प्रकर्षेण चोदयति, प्रेरयति'। 'प्रेरित करें' - इस अर्थ में यह शब्द है।

योजयति धर्म, अर्थ, काम, मोक्षेषु बुद्धिमस्मादीनाम् ।
प्रचोदयात् प्रकर्षेण चोदयति प्रेरयति सत्कर्मानुष्ठानाय ।।

।। संध्यावंदन वधि का प्रमाण-विवरण ।।

(भारत देश में संध्यावंदन की सहस्रावधि विभिन्न विधियाँ हैं, जो अपने अनुकूल तथा श्रद्धा के अनुसार संक्षिप्त अथवा विस्तृत रूप में बनाई हुई हैं। परंतु सभी प्रदेशों की सभी विधियों में अर्घ्यप्रदान एवं गायत्री जप अवश्य होते हैं। क्यों कि, इन दोनों प्रक्रियओं से ही संध्यावंदन किया जाता है। परंतु संध्यावंदन की सही विधि क्या है, किस ग्रंथ में संध्यावन्दन की विधि का आदेश है - इन बातों का चिंतनकर मैं ने भागवत पुराण के अंगभूत देवीपुराण के ग्यारहवे स्कंध में नारद एवं श्रीमन् नारायण के संवाद के माध्यम से भगवान् वेदव्यासजी द्वारा निर्दिष्ट विधि को इस पुस्तक के परिशिष्ट-भाग में प्रकाशित किया है। उस संवाद के अंगभूत कुछ श्लोक एवं उनपर हिंदी विवरण यहाँ पर दिया जा रहा है। संध्यावंदन के संक्षिप्त विधान, संध्यावंदन के अंतर्गत मंत्रों का अर्थ, संध्यावंदन स्वयं शिक्षक- इत्यादि विषयों से युक्त अनेक पुस्तकें बाजार में उपलब्ध हैं। अत: संध्यावंदन करने के विवरण नहीं अपितु व्यास जी द्वारा प्रतिपादित मूलसंस्कृत श्लोक एवं उस के विवरण को यहाँ पर दिया गया है। देवी भागवत के अनुसार सविस्तार एवं शुद्ध विधि को परिशिष्ट में मुद्रित किया गया है। संध्यावन्दन को गुरुमुख से ही अभ्यास करना चाहिए ।)

प्रात:सन्ध्यां सनक्षत्रां माध्यान्हे मध्यभास्कराम्।
ससूर्यां पश्चिमां सन्ध्यां तिस्र:सन्ध्य उपासते।

देवीभागवत- ११-१६-०३

जब तारे दिखते हों, उस समय से सूर्योदय के पर्यंत प्रात:संध्या है। आकाश के मध्यस्थान में सूर्य आने से मध्यमा है और सूर्यास्त की पश्चिम (सायं) संध्या है।

उत्तमा तारकोपेता मध्यमा लुप्ततारका।
अधमा सूर्यसहिता प्रात:सन्ध्या त्रिधा मता।।

दे.भा.११-१६-०४

तारों से युक्त उत्तम, लुप्त तारों वाली मध्यम तथा सूर्यसहित अधम - इस प्रकार प्रात:संध्या के तीन प्रकार बताये हैं। उपर्युक्त श्लोक का सारांश यह है कि, तारों के

रहते हुए संध्यावंदन को प्रारंभ कर सूर्योदय पर्यंत जप करना चाहिए। सूर्योदय होने के पश्चात् उपस्थान करना चाहिए, जो उत्तम संध्या कहलाती है। सूर्योदय होने के बाद किये जाने वाले संध्यावंदन को अधम कहा गया है।

उत्तमा सूर्यसहिता मध्यमास्तमिता रवौ।
अधमा तारकोपेता सायं सन्ध्या त्रिधा मता॥

दे.भा. ११-१६-१०

सायं संध्या सूर्य के सहित उत्तम, सूर्यास्त के बाद मध्यम तथा तारों से युक्त अधम - इस प्रकार सायं संध्या के तीन काल बताये गए हैं। अर्थात् सूर्यास्त होने से पूर्व ही संध्यावंदन को आरंभितकर सूर्यास्त होने तक जप करें और सूर्यास्त होने के पश्चात् उपस्थान करें, जो उत्तम सायं संध्या कहलाती है। मध्यान्ह में सूर्य आकाश के मध्यभाग में रहते हुए उत्तम मध्यान्ह संध्या कहते हैं।

गृहे साधारणा प्रोक्ता गोष्ठे वै मध्यमा भवेत्।
नदीतीरे चोत्तमा स्यात् देवीगेहे तदुत्तमा॥

दे.भा.११-१६-१२

घर में की जाने वाली संध्या को साधारण, गोशाला में मध्यम, नदीतीर में उत्तम तथा दीवी के मंदिर में अत्युत्तम कहा गया है।

आचमन:-

ओंकारपूर्वकं नाम चतुर्विंशतिसंख्यया।
स्वाहान्तै:प्राशयेद्वारि नमोऽन्तै:स्पर्शयेत्तथा॥

ओंकार (ॐ) संयुक्त केशव आदि २४ नामों से आचमन विहित है। भगवन्नाम के आदि में 'ॐ' तथा अंत में 'नम:' को जोडने से वह नाम 'नाम-मंत्र' बन जाता है। अत: अचमन करते समय 'ॐ' तथा 'नम:' इन का उच्चार अवश्य करें। क्यों कि, आचमन २४ नाम-मंत्रों से २४ तत्वों को शुद्ध करने की प्रक्रिया है। भगवन्नाम-स्मरण, भजन-संकीर्तन - ये भावना-प्रधान प्रक्रियाएँ होती हैं। परंतु कर्म-प्रधान वैदिक कर्मों में भावना या भक्ति के अलावा 'शुद्ध-मंत्र' एवं 'शुद्ध-कर्म' का होना

अत्यावश्यक है। क्यों कि, 'मंत्र' और 'कर्म' ही फलप्राप्ति के कारण हैं। मंत्र के अपूर्ण या अशुद्ध उच्चार से वह कर्म निष्फल हो जाता है।

ऋषि-मुनियों ने अनेक प्रकार के संशोधन, प्रयोग आदि करने के पश्चात् अपने अनुभव से निश्चित फलप्राप्ति हेतु निश्चित मंत्र के निश्चित उपासना-विधान को सिद्ध किया है। अत एव मंत्र और विनियोग-विधान का सम्यक् अध्ययनकर अनुष्ठान करने से उद्देशित फल का प्राप्त होना संभव है। अत: आचमन में **ॐ गोविन्दाय नम:, ॐ विष्णवे नम:**-इस प्रकार 'ॐ' तथा 'नम:' से संपुटित नाम-मंत्र पठन करें, जिस से आचमन का उद्देश मनो-दैहिक शुद्धता पूर्ण हो सके। आचमन की उपर्युक्त विधि पौराणिक आचमन की है। इस के अलावा श्रौताचमन भी प्रसिद्ध है, जिस में श्रुति-मंत्रो का उपयोग होता है।

प्रणवं पूर्वमुच्चार्य गायत्रीं तु तदित्यृचम्।
पादादौ व्याहृती तिस्र: श्रौताचमनमुच्यते ।।

दे.भा. ११-१६-३६

गायत्री के तीनों पादों के अदि में प्रणव एवं एक-एक व्याहृति को जोडकर उच्चार करते हुए तीन बार जल-प्राशन करें। अंत में प्रणव एवं व्याहृतित्रय से युक्त गायत्री का उच्चार करें, जिसे श्रौताचमन कहते हैं।

गोकर्णाकृतिहस्तेन माषमात्रं जलं पिबेत्।
ततो न्यूनाधिकं पीत्वा सुरापानी भवेद्द्विज: ।।

दे.भा. ११-१६-२६

गौ के कान के समान आकृति में हाथ का आकार कर के एक मासा (जिस में एक मूंग का दाना डूब सके) मात्र जल पीना चाहिए। एक मासे से अधिक अथवा कम जल पीने से द्विज सुरापान करने के समान पापी बन जाता है।

दक्षिणेनोदकं पीत्वा वामेन संस्पृशेद्बुध: ।
तावन्न शुध्यते तोयं यावद्वामेन न स्पृशेत् ।।

दे.भा. ११-१६-२५

विवेकी पुरुष दाहिने हाथ से जल पीते समय उस के बायें हाथ से दाहिने हाथ को स्पर्श किया रहे। क्यों कि, पीनेवाला जल तब तक शुद्ध नहीं समझा जाता, जब तक बायें हाथ का स्पर्श न हो। सारांश यह है कि, दोनों हाथों से जल पीना चाहिए।

संहताङ्गुलिना तोयं पाणिना दक्षिणेन तु।
मुक्ताङ्गुष्ठ कनिष्ठाभ्यां शेषेणाचमनं विदु:॥

दे.भा.११-१६-२७

अचमन के लिए दाहिना हाथ हो, अंगूठा और कनिष्ठिका-ये दोनों अलग-अलग हो एवं बीच की तीनों अंगुलियाँ एक साथ जुडकर सटी हुई हो, यों आचमन करने की मुद्रा है।

प्राणायाम:-

प्राणायामसमो योग: प्राणायाम इतीरत:।

प्राणायाम ही प्राणायाम के समान योग-प्रक्रिया है, जो सर्व राग विनाशक और मन, बुद्धि तथा चित्त को शांति प्रदानकर साधक को एकाग्रचित्त बनाता है। अत: एव जप-प्रधान संध्यानुष्ठान में तीन बार प्राणायाम करने का विधान है। योग-मार्ग में विविध साधनाओं के लिए विभिन्न प्रकार के प्राणायामों के विधान महर्षि पतंजलि द्वारा बनाए गए हैं। पतंजलि ने योगसूत्रों द्वारा प्रतिपादित प्राणायामों के विधान योग-साधना में नहीं, अपितु शारीरिक बाधाओं को दूर करने के लिए ही सही आज भी लोकप्रिय हैं।

योगश्चित्तवृत्तिर्निरोध:।

महर्षि पतंजलि कहते हैं कि, अपने चित्त की चंचल वृत्तियों को निरोधित कर उसे परमात्मा के चिंतन में 'जोडना' ही योग है। 'योग' शब्द के सही अर्थ को जानने पर आप इस बात को समझेंगे। चित्त की वृत्तियों को निरोधित कर उसे निश्चल करना अत्यंत कठिन है। इसीलिए अनेक प्रकार के शारीरिक आसन-व्यायाम आदियों द्वारा तन और मन को स्वस्थ एवं स्थिर बनाने के लिए सूचित किया गया है। इस प्रकार तन एवं मन के सहयोग से बुद्धि के स्थिर होने पर योग-प्रक्रिया प्रारंभ होती है।
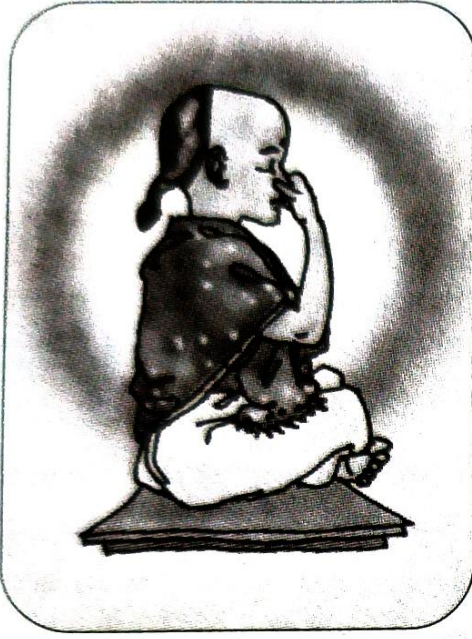
परंतु केवल शारीरिक व्यायाम ही 'योग' नहीं है।

संध्यावंदन, अग्निकार्य इत्यादि सभी कर्मों के प्रारंभ में प्राणायाम (श्रौत प्राणायाम, जो श्रुतिमंत्रों से युक्त होता है) करने के कारण उस कर्ता का मन स्थिर होकर वह कर्म सुसंपन्न होता है। संध्यावंन के प्रारंभ में, अर्घ्यप्रदान से पूर्व और गायत्री जप से पूर्व- इस प्रकार तीनों प्राणायामों से जापक संपूर्ण रूप से जप के लिए संसिद्ध होता है। जो जापक सही विधान से श्रौत-प्राणायाम के द्वारा त्रिकाल संध्यावंदन करता है, उसे अन्य किसी भी प्रकार के प्राणायाम-विधानों की आवश्यकता नहीं है।

पञ्चांङ्गुलीभिर्नासाग्रं पीडयेत् प्रणवेन तु।
सर्वपापहरा मुद्रा वानप्रस्थ-गृहस्थयो: ।।

ओंकार से पांचों अंगुलियों द्वारा नासिका के अग्रभाग को पकडें। यह मुद्रा वानप्रस्थ एवं गृहस्थों के लिए विहित है, जो सभी प्रकार के पापों को दूर करती है।

कनिष्ठाऽनामिकाङ्गुष्ठै: यतेश्च ब्रह्मचारिण: ।

कनिष्ठिका, अनामिका, और अंगुष्ठ से ब्रह्मचारी तथा यतियों के प्राणायाम की मुद्रा विहित है। तर्जनी एवं मध्यमा अंगुलियों का नासिका से स्पर्श होना निन्द्य है।

रेचक:पूरकश्चैव प्राणायामोऽथ कुम्भक: ।

प्राणायाम में पूरक, कुंभक और रेचक - ये तीन प्रक्रियाएँ होती हैं। अनामिका एवं अंगूठे से बायें नासा-छिद्र को बंद करके दाहिने नासा-छिद्र से वायु का भरना 'पूरक' है। दोनों नास-छिद्रों को बंदकर वायु को धारण किये रहना 'कुंभक' कहलाता है और बायें छिद्र से वायु का रेचन 'रेचक' कहलाता है।

नीलोत्पलदलश्यामं नाभिमध्ये प्रतिष्ठितम्।
चतुर्भुज महात्मानं पूरके चिन्तयेद्धरिम्।।

सप्तव्याहृतियों को सात प्रणवों के सात उच्चार करते हुए पूरक करना चाहिए तथा वायु का पूरण करते समय नील कमल के समान श्याम-वर्ण से युक्त भगवान् विष्णु को अपने नाभिदेश में ध्यान करें।

कुम्भके तु हृदिस्थाने ध्यायेत्तु कमलासनम्।
प्रजापतिं जगन्नाथं चतुर्वक्त्रं पितामहम्।।

कुंभक में गायत्री का तीन बार मनन करें तथा भगवान् विष्णु के नाभि से प्रकट कमल पर विराजमन अरुण एवं गौर मिश्रित वर्णवाले ब्रह्माजी को अपने हृदय प्रदेश में ध्यान करें।

रेचके शङ्करं ध्यायेत् ललाटस्थं महेश्वरम्।
शुद्धस्फटिकसंकाशं निर्मलं पापनाशनम्।।

गायत्री शिरस् का मनन करते हुए वायु का रेचन करें एवं रेचन करते समय शुद्ध स्फटिक के समान निर्मल एवं पापनाशक भगवान् शंकर को अपने ललाट-देश में ध्यान करें।

दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां च दह्यन्ते दोषाःप्राणस्य निग्रहात्।।

मनुस्मृति - ६-७१।

प्राण के निग्रह (प्राणायाम) से इंद्रियों के दोष एवं मन के राग-द्वेषादि दोष नष्ट होकर साधक ऐसा शुद्ध बन जाता है, जैसे स्वर्ण, रजत अदि धातुओं में स्थित मल अग्नि के स्पर्श से नष्ट होकर वह धातु परिशुद्ध बन जाती है।

पूरक में सप्तव्याहृतियों को, कुंभक में गायत्री को तीन बार और रेचक में गायत्री शिर का मनन करने की विधि है। इन मंत्रों का मनन करते समय मंत्रों के भावार्थ का चिंतन भी करें।

प्राणायाम करते समय मनन किये जाने वाले मंत्र एवं उन मंत्रों के भावार्थ को निम्न में दिया जा रहा है।

ॐ :-परब्रह्म के प्रतीक, त्रिगुणात्मक, 'अ'कार, 'उ' कार तथा 'म'कारात्मक **'शाब्दब्रह्म'** है, जो प्रणव कहलाता है।

ॐ भूः :-प्रणव (ओंकार) ही ब्रह्मस्वरूपी भूलोक है।

ॐ भुवः :-प्रणव ही शीतोष्णादि स्वरूपी भुवर्लोक (पितृलोक) है।

ॐ स्वः :-प्रणव ही स्वर रूपी स्वर्लोक है।

ॐ महः :-प्रणव ही बुद्धितत्वस्वरूपी महोलोक है।

ॐ जनः :-प्रणव ही प्राणियों के लय और पुनःसृष्टि से युक्त जनोलोक है।

ॐ तपः :-प्रणव ही तपःप्रधान तपोलोक है।

ॐ सत्यम् :-प्रणव ही सत्यप्रधानों का स्थान सत्यलोक है।

तत्सवितुर्वरेण्यं,
भर्गोदेवस्यधीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात् :- इस प्रकार सातों लोकों के कारणीभूत एवं उन में व्याप्त उस सवितृमंडल में स्थित परमात्मा के वरणीय (श्रेष्ठ) तेज (भर्ग) की हम उपासना करते हैं, जो हमारी धीशक्ति (बुद्धि) को मोक्ष की ओर प्रेरित करता है।

ॐ आपोज्योतीरसोमृतं ब्रह्म :- प्रणव ही जल, ज्योति, माधुर्यादि रस, अमृत और ब्रह्म है।

भूर्भुवःस्वरोम् :- इस प्रकार भूरादि लोकों में प्रणव (ब्रह्म) ही व्याप्त है।

प्राणायाम:परं तप:।

मनुस्मृति-६-१७।

इस प्रकार अनेक ग्रंथों में प्राणायाम की महिमा विशद रूप से वर्णित है तथा आधुनिक युग में भी प्राणायाम पर संशोधनात्मक चर्चा हो रही है। केवल प्राणायाम पर ही लिखे हुए अनेक उत्कृष्ट ग्रंथ उपलब्ध हैं, क्यो कि, प्राणायाम की उपयोगिता अनन्य है।

संकल्प:-

यज्ञ, होम, हवन, पूजा आदि विशेष एवं फलदायक (काम्य) कर्मों को करने से पहले उस कर्म का देश-काल तथा अपनी कामना की स्तुति करते हुए कर्म का संकल्प करने की विधि है। परंतु संध्या, नित्यपूजा आदि नित्य एवं नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान के लिए देश-काल के उच्चारपूर्वक संकल्प करने की आवश्यकता नहीं है। तथापि औपचारिक रूप से वैदिक एवं अवैदिक कर्मों में देश-कालोच्चार करने की प्रणाली प्रचलित है।

मार्जन:-

आपोहिष्ठेति तिसृभि: प्रोक्षणं स्यात्कुशोदकै:।
ऋगन्ते मार्जनं कुर्यात् पादान्ते वा समाहित:।।

दे. भा. ११-१६-४१

आपोहिष्ठा आदि तीन ऋचाओं का पठन करते हुए मार्जन करें। ऋचा (मंत्र) के अंत में अथवा ऋक् के अंतर्गत प्रत्येक पाद के अंत में दर्भाग्रों से प्रोक्षण करने का विधान है।

नवप्रणवयुक्तेन आपोहिष्ठेत्यनेन तु।

तीनों ऋचाओं के प्रत्येक पाद यानी आपोहिष्ठा आदि नौ पादों को प्रणव के साथ उच्चार करते हुए मार्जन करें, जो बाह्यशुद्धिकारक तथा पापविनाशक है।

नश्येदघं मार्जनेन संवत्सरसमुद्भवम्।

मंत्राचमन:-

प्रात:संध्यामें सूर्य, मामन्यु, मन्युपति और रात्रिदेवताओं तथा सायं संध्या में अग्नि, मामन्यु, मन्युपति और अहर्देवताओं से उस संध्या से पूर्वकाल में किये गये पापों को नष्ट करने की प्रार्थना करते हुए अभिमंत्रित जल प्राशन करना मंत्राचमन कहलाता है।

द्वितीय मार्जन:-

प्रणवेन व्याहृतिभिर्गायत्र्या प्रणवाद्यया।
आपोहिष्ठेति सूक्तेन मार्जनं चैव कारयेत्।

प्रणव, व्याहृति एवं गायत्री से युक्त आपोहिष्ठा आदि नौ ऋचाओं के सूक्त का पठन करते हुए द्वितीय मार्जन करने का विधान है।

अघमर्षण (पाप पुरुष विसर्जन) :-

उद्धृत्य दक्षिरे हस्ते जलं गोकर्णवत्कृते।
नीत्वा तं नासिकाग्रं तु वामकुक्षौ स्मरेदघं।।
पुरुषं कृष्णवर्णं च ऋतंचेति पठेत्तत:।
श्वासमार्गेण तं पापमानयेत् करवारिणी।।
नालोक्यत तद्वारि वामभागेश्मनि क्षिपेत्।
निष्पापं तु शरीरं मे संजातमिति भावयेत्।।

दे.भा. ११-१६-४८।

अपने दाहिने हाथ को गौ के कान के समान बनाकर उस में जल लेलें। उस जल को नासिका के अग्रभागपर रखें और सोचे कि, मेरी वामकुक्षि में पापपुरुष बसा हुआ है। कुश के समान उस की आकृति है और उस का वर्ण श्वेत है। यों भावना करते हुए **ऋतंचसत्यं....** मंत्रोच्चार करते हुए नासिका के दाहिने छिद्र से श्वास-मार्ग के द्वारा शरीर में रहने वाले उस पापपुरुष को हाथ के जल में आकर्षित करें ।

और उस पर दृष्टि न डालकर उस जल को अपनी बाई ओर फेंक दें। तत्पश्चात् ऐसी भावना करें कि, मेरा शरीर अब बिलकुल निष्पाप हो गया।

अर्घ्यप्रदान:-

उत्थाय तु तत: पादौ द्वौ मासौ सन्नियोजयेत्।
जलाञ्जलिं गृहीत्वा तु तर्जन्यङ्गुष्ठवर्जितम्।।
वीक्ष्यभानुं क्षिपेद्वारि गायत्र्याचाभिमन्त्रितम्।
त्रिवारं मुनिशार्दूल विधिरेषोऽर्घ्यमोचने।।

अर्घ्यप्रदान के लिए खड़े हो जाएँ तथा दोनों पैर रटे रहें। अजलिं में जल ले लें। (दोनों हाथों की तर्जनी और अंगूठा अंजलि से अलग रहें) सूर्यनारायण की ओर देखकर गायत्री से अभिमंत्रित जल को सूर्य की ओर फेंकें। इसी तरह तीन बार अर्घ्यप्रदान करने का विधान है।

ईषन्नम्न:प्रभाते तु मध्यान्हे दण्डवत् स्थित:।
आसनेचोपविष्टस्तु द्विज:सायं क्षिपेदघ:।।
दे.भा.११-१६-५२

प्रभात काल में अर्घ्यप्रदान करते समय कुछ नम्र रहें, मध्यान्ह में दण्डे के समान स्थिर रहें और सायं समय में आसन पर बैठकर अर्घ्यप्रदान करें। निम्न में यह भी बताते है, कि अर्घ्यप्रदान क्यों करें -

त्रिंशत्कोट्या महावीरा मन्देहा नाम राक्षसा:।
कृतघ्ना दारुणा घोरा:सूर्यमिच्छन्ति खादितुम्।।
ततो देवगणा:सर्वे ऋषयश्च तपोधना:।
उपासते महासन्ध्यां प्रक्षिपन्त्युदकाञ्जलीन्।
दह्यन्ते तेन दैत्यास्ते वज्रीभूतेन वारिणा।।

मंदेहा नाम के तीस करोड महाबली राक्षस हैं, जो बडे कृतघ्न, घोर और दारुण हैं। ये राक्षस सूर्य को खाने की इच्छा रखते हैं। जब देवता और तपोधन ऋषिगण संध्याकाल में अर्घ्य देते हैं, वह जल वज्र बनकर दैत्यों को दूर करता है।
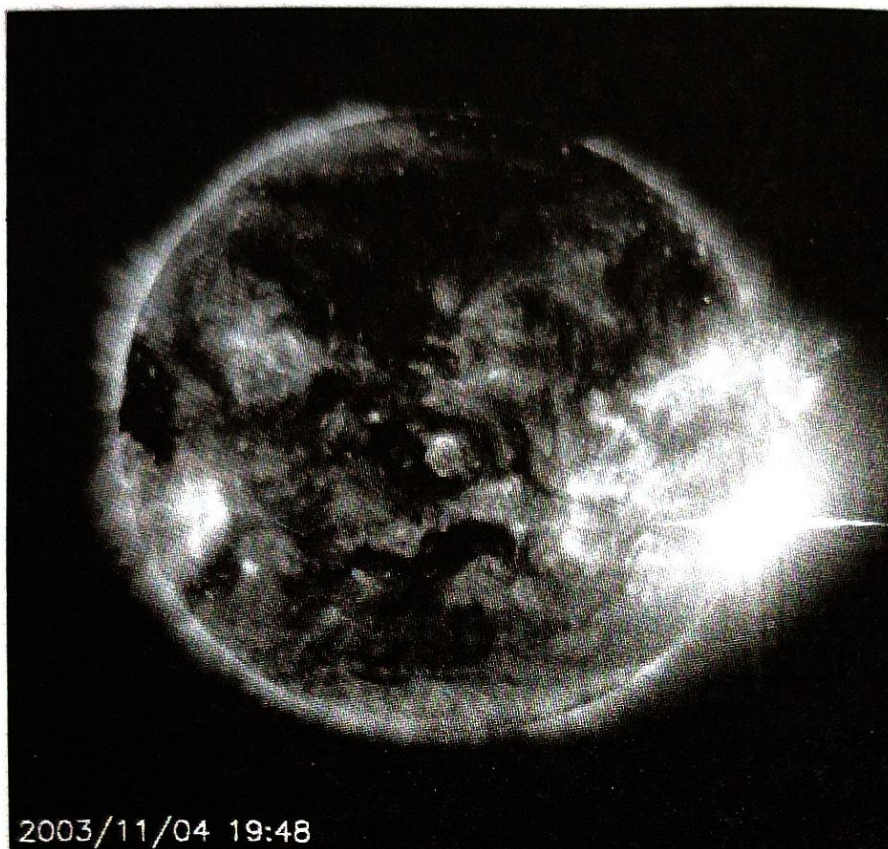
Solar Flares

ता आपो वज्रीभूत्वा तानि रक्षांसि मन्देहारुणेद्वीपे प्रक्षिपन्ति...

यजुर्वेद ।

अर्घ्यप्रदान करने के कुछ वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक कारण भी हैं। कुछ अगोचर ज्वालाएँ सूर्य पर गोलाकार में आवृत होती रहती हैं। भौत विज्ञानियों का कहना है कि, यह प्रक्रिया निरंतर जारी रहती है और उन ज्वालाओं का नाम SOLAR FLARES है। इन सोलार फ्लेर्‌स को ही ऋषियों ने 'मंदेहा राक्षस' कहा है। ये राक्षस सूर्य को आक्रमित करते हैं, जिस के कारण मानव का चित्त कलुषित हो जाता है।

Plants grow taller, trees grow thicker, rings, animals and human beings become more agressive during the peak activity of solar flars - यह भौतशास्त्रज्ञों का अभिमत है।

Solar flares के इस दुष्परिणाम से बचने के लिए यानी मंदेहा राक्षसों को दूर करने के लिए संध्यावंदन में अर्घ्यप्रदान किया जाता है।

तत:प्रदक्षिणां कुर्यादसावादित्यमन्त्रत: ।

अर्घ्यप्रदान के उपरांत 'असावादित्योब्रह्मा' कहते हुए प्रदक्षिणा करने का नियम है।
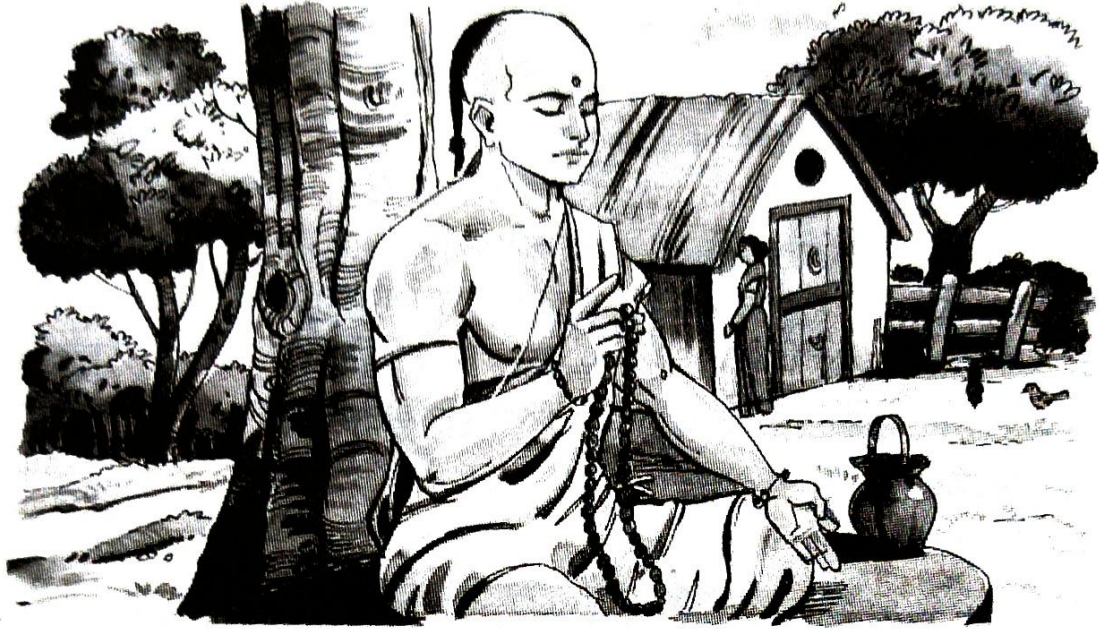
असौ + आदित्य: + ब्रह्मा । यह आदित्य ही ब्रह्म है। इस भावना को दृढ करते हुए गायत्री जप के लिए संसिद्ध होने के लिए यह उपर्युक्त उद्घोषणा की जाती है।

गायत्री जप:-

उपर्युक्त आचमन आदि अर्घ्यप्रदान पर्यंत की प्रक्रियाएँ उपासक को सभी प्रकारों की शुद्धता प्राप्त करवाकर जप के लिए तैयार करते हैं। कुछ विधियों में जप के प्रारंभ में आसन-विधि एवं भूतोत्सादन करने का विधान है।

घण्टावत्प्रणवोच्चारात् वायुं निर्जित्य यत्नत: ।
स्थिरासने स्थिरोभूत्वा निरहङ्कारनिर्मम: ।।

दे.भा.११-१६-६६

घंटानाद के समान प्रणवोच्चार से यत्नपूर्वक वायु को जीतकर अहंकार और ममता को त्यागकर स्थिरासन में बैठें। जप का संकल्प करके विधिवत् न्यास को

संपन्न करें, जो जापक को जप के योग्य बनाता है।

नाऽदेवो देवमर्चयेत्।

आगमशास्त्र।

राम होऊनि राम गां रे...

माणिकप्रभु महाराज।

इत्यादि वचनों के अनुसार मंत्र-स्वरूपी बनकर 'मंत्र' की उपासना करना होता है। अत: विधि में उक्त प्रकार ओंकार से संपुटित मंत्र-भागों को अपने इंद्रियों में स्थापित (न्यास) कर स्वयं को मंत्र-स्वरूप मानना चाहिए। तत्पश्चात् गायत्री के सगुण रूप को अपने मन:पट में चित्रित करने हेतु **मुक्ताविद्रुम**...इस ध्यान-श्लोक का पठन करें।

ध्यातश्च पूजां कुर्वीत पञ्चभिश्चोपचारकैः।

दे.भा. ११-१७-११

ध्यान के उपरांत पांच उपचारों द्वारा ध्यानित देवताओं की पूजा करने की विधि है।

तत:शापविमोक्षाय विधानं सम्यगर्चयेत्।
ब्रह्मण:स्मरणेनैव ब्रह्मशाप विवर्जते।।
विश्वामित्रस्मरणतो विश्वामित्रस्य शापत:।
वसिष्ठस्मरणादेव तस्य शापो विनश्यति।।

ब्रह्मा, विश्वामित्र तथा वसिष्ठ- इन के गायत्री मंत्रपर स्थित शापों के परिहार हेतु इन तीनों के स्मरणकर जप को प्रारंभ करें।

उपस्थान:-

प्रात:काल मित्रो (सूर्यो) पस्थान करें, जिस में सूर्य संबंधी मंत्र उपस्थित हैं और सायंकाल में वरुणोपस्थान।

ततोपित्र्यम्बको मन्त्र: शान्त्यर्थ:परिकीर्तित: ।
तच्छंयोरितिमन्त्रंच जपेच्छान्त्यर्थमेव तु ।।
यथाविधिं च गोत्रादीन् उच्चरेत् द्विजसत्तम: ।

दे.भा. ११-१७-१३

तदुपरान्त शान्तिमंत्र, दिङ्नमस्कार आदि गोत्राभिवादन के पर्यन्त की विधि को संपन्नकर कर्मसंतर्पण करें और अंत में दो बार आचमन करें।

॥ संस्कार और संस्कृति ॥

'संस्कृति' शब्द संस्कृत भाषा का है। परंतु दुःख की बात है कि, आज-कल इस का प्रयोग अंग्रेजी भाषा के culture शब्द के अनुवाद के रूप में हो रहा है, जिस में संस्कृति शब्द का वास्तविक अर्थ कभी समझ में नहीं आता। 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय होकर 'संपरिभ्यां करोतौ भूषणे ' इस पाणिनीय व्याकरण सूत्र से भूषण- सुट का आगम होने पर 'संस्कृति' शब्द बनता है। इस का अर्थ है - मानव का वह कर्म, जो भूषण स्वरूप, अलंकार स्वरूप है। अर्थात् मनुष्य द्वारा किये जाने वाले ऐसे कर्म या कार्य, जिस से लोग उसे अलंकृत, सुसज्जित, सर्व सन्नद्ध समझे, उन कार्यों का नाम है - संस्कृति। प्रकारांतर से देखें तो संस्कृति शब्द का शद्ध अर्थ है 'धर्म '। अंग्रेजी भाषा का culture शब्द cult से बनता है। इस के अनुसार किसी भी देश के रहन-सहन, वेश-भूष, कला कौशल इत्यादियों का अंतर्भाव उस में होता है। परंतु संस्कृति शब्द का इन सब से कोई संबंध नहीं है। संस्कृति शब्द का दूसरा वाचक 'संस्कार' है। वह भी सम् उपसर्ग पूर्वक कृ धातु से उत्पन्न होता है। आचार- व्यवहार वैयक्तिक हैं। ये मन के प्रभाव से उद्भूत और नियंत्रित होते हैं। प्रकृति के अविच्छिन्न संपर्क में रहने से ये शारीरिक तथा मानसिक मलों (दोषों) से आवृत्त होकर दूषित हो जाते हैं। यद्यपि मानव का अस्तित्व प्राण (आत्मा) पर अवलंबित है, किंतु तन-मन के अधीन में रहकर वह अनैतिक तथा अधर्म करने के लिए विवश हो जाता है। मानव के मन से अपवित्र भाव, मल तथा दोष का परिमार्जन कर उन की निवृत्ति करना और शुचिता, पवित्रता तथा पुण्य का भाव मन, वाणी एवं व्यवहार में प्रतिष्ठित करना 'संस्कार' है। वैदिक एवं स्मार्त सामान्य विशेष कर्मों के आचरण से शारीरिक तथा मानसिक मलों को परिमार्जित कर पवित्र और उत्कृष्ट बनाते हुए मानव को निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त करने योग्य अधिकारी बनाना 'संस्कार' है। इसे इस तरह समझा जा सकता है कि - एक सज्जन खेती के लिए अपना खेत खोद रहे थे। उस में उन को एक हरा-हरा पत्थर मिला। उन्हें वह बहुत ही बढिया, बहुत सुंदर लगा। उस को लेकर वे जौहरी के पास गये, उसे दिखाया। उस ने कहा अच्छा है, और उन को बीस रुपए देकर उसे खरीद लिया। फिर उस में मिट्टी लगी हुई थी, उसे साफ किया। बेडौल था, सुडौल बनाया। पालिश करके चमकाया और उस को आभूषण में धारण करने योग्य बनाया। फिर उस का आभूषण बन गया और इस तरह उस बीस रुपये के कीमत पहले बीस हजार और फिर दो लाख हो गई-इस को कहते हैं 'संस्कार'। इस तरह मनुष्यों के संवरने की प्रक्रिया ही 'संस्कृति' कहलाती है।

संस्कार के लिए अलग-अलग लोगों का अलग-अलग मत है। वेदांती लोग इस बात पर जोर देते हैं कि, केवल ज्ञान का संस्कार कर लिया जाय। योगी लोग इस बात पर ज्यादा जोर देते हैं कि, विक्षेप को मिटा दिया जाय। उपासक लोग इस बातपर जोर देते हैं कि, वासनाएँ मिटा दी जाएँ और धार्मिक लोग इस बात पर बल देते हैं कि, हमारे जीवन में जो दुश्चरित्र है उसे मिटा दिया जाय। यदि साधन-क्रम का निश्चय करना हो तो साधन का क्रम यह होता है कि वह नीचे से ऊपर की ओर ले जाय -द्रव्य-शुद्धि, भोग-शुद्धि, क्रिया-शुद्धि और वाक्-शुद्धि। हमारे घर में जो धन आवे, वह शुद्ध हो, हम जो अपनी इंद्रियों के द्वारा वस्तुओं के भोग करें वह शुद्ध हो, हम जो कर्म करें वह शुद्ध हो और हम जो बोलें वह भी शुद्ध हो। संस्कार की यह प्रक्रिया जीवन में सबसे पहले स्थूल रूप में आती हैं। संस्कार केवल पदर्थोंका ही नहीं होता, मनुष्यों का भी होता है। महर्षि मनु अपनी 'मनुस्मृति' में कहते हैं, कि मनुष्य में अनेक प्रकार के विकार होते हैं। कुछ पुरानी परंपरा से आये हुए होते हैं, कुछ नाना-नानी से, कुछ दादा-दादी से, कुछ माता-पिता से, कुछ पूर्वजन्म से, कुछ गर्भावस्था में माता के खान-पान, रोने-हँसने से। यानी कुछ विकार बीज में और कुछ गर्भ में होते हैं और फिर जन्म लेने के बाद भी खाना-पीना, संग साथ से ही मनुष्य का जीवन बनता है। पर हमारी प्रणाली यह है कि, ये विकार चाहे पूर्वजन्म से आए हुए हों या अपने पूर्वजों से आये हुए हों, इन को दूर करने के लिए धार्मिक संस्कार करना चाहिए।

बैजिकं गार्भिकं चैव द्विजानामपमृज्यते।

मनुस्मृति २ -२७

संस्कार के द्वारा बीजगत और गर्भगत दोषों का निवारण किया जाता है। धार्मिक (वैदिक) संस्कारों की संख्या की विषय में मतभेद होने के बावजूद महर्षि वेदव्यास द्वारा प्रणीत षोडश (१६) संस्कार प्रसिद्ध तथा प्रचलित हैं।

गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जातकर्म च।
नामक्रिया निष्क्रमणोऽन्नप्राशनं वपनक्रिया ॥
कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भक्रियाविधिः।
केशान्तस्नानमुद्वाहो विवाहाग्नि परिग्रहः ॥
त्रेताग्निसंग्रहश्चेति संस्काराः षोडशस्मृताः ॥

व्यासस्मृति ०१-१३-१५

उपर्युक्त सोलह संस्कारों की चर्चा यहाँ पर संक्षेप में प्रस्तुत है।

१) गर्भाधान संस्कार-

इस संस्कार में प्रजापति के व्याहृति मंत्रों के उच्चारण द्वारा प्रजापति के आह्वान का विधान है। इस का अर्थ यह है कि, प्रजनन का कार्य तीनों लोकों में आत्मविस्तार का कार्य है और इस भावना से संस्कृत होकर प्रजनन का व्यापार करें एवं सत्संतान की प्रार्थना करें*।

२) पुंसवन संस्कार -

यह संस्कार गर्भ के तीसरे मास में पुत्र संतान उत्पन्न करने के उद्देश से किया जाता है। पितृसत्तात्मक हिंदू समाज में पुत्र संतान का महत्व अधिक रहा है, इसलिए इस संस्कार का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह संस्कार हस्ता, मूला, श्रवणा, पुनर्वसु, मृगशिरा, पुष्य- इनमें से किसी एक नक्षत्र में पति या उस के वंश का कोई पुरुष संपन्न करता है। वह दूधवाले वृक्ष की टहनी स्त्री की दाहिनी नाक में डालकर जीव-पुत्र मंत्र का उच्चारण करता है तथा प्रजापति की प्रार्थना करता है।

---

*आधुनिक वैद्यकीय विज्ञान भी इस बात को मानता है कि, गर्भधारणा से पूर्व से ही माता-पिता के स्वस्थ रहने से , गर्भ धारणा के नंतर के गर्भिणी-स्त्री के रहन-सहन, खान-पान से गर्भस्थ शिशु मानसिक और दैहिक रूप से प्रभावित होता है। पाश्चात्य देशों में मनोविज्ञान (Psychology) को लोकप्रिय बनाने वाले आस्ट्रेलिया के प्रख्यात मनोवैज्ञानिक श्री सिग्मण्ड फ्रायूड (Sigmund freud.1856 -1939) का भी यह मानना था कि, गर्भ धारणा से पूर्व तथा गर्भधारणा के पश्चात् माता-पिता की जो मानसिक स्थिति होती है, वह उन के संतान को अवश्य प्रभावित करती है। केवल अच्छे School में बहुत रुपयों को खर्चकर उत्तम शिक्षा प्रदान कराने से हमारे संतान सदाचारी नहीं बनते हैं। अच्छे संतान को चाहने वाले गर्भधारण से पूर्व ही यह निश्चय कर लेना चाहिए कि, उन्हे किस प्रकार की संतान चाहिए, और उस के लिए जो नियम हैं, उन का अनुपालन करना चाहिए। पति-पत्नी को स्वयं को मानसिक एवं दैहिक रूप से उस प्रकार के अनुशासन में रखना चाहिए, जिस प्रकार की संतान को वे चाहते हैं। सभी नियमों का अनुपालन और परमात्मा से सत्संतान की प्रार्थना करते रहने से वैसी ही संतान प्राप्त होती है, जैसी हम चाहते हैं। इत्यादि बातों का सम्यक् अध्ययन करने पर गर्भाधान संस्कार की विशेषता समझ में आती है।

३) सीमंतोन्नयन संस्कार-

इस संस्कार में पुरुष दूब के तीन तिनकों से या फलयुक्त गूलर की टहनी से स्त्री की मांग को बीच में से विभाजित करता है और व्याहृति मंत्र का उच्चारण करता है। इस के साथ ही साथ वीणा-वादन होता रहता है और पुरुष अपने क्षेत्र में बहनेवाली नदी का नाम लेता है, फिर स्त्री के सिर में जौ के नये अंकुर बाँध दिये जाते हैं और वह नक्षत्र दिखाई देने तक मौन रहती है। फिर तारे दिखाई देने पर पुरुष स्त्री के साथ पूर्व दिशा में जाकर एक बछडे का स्पर्श करती है, तब स्त्री मौन तोडती है।

विष्णुबलिः - यह गर्भ से आठवें महीने में किया जाता है, इस में पद्म या स्वस्तिकाकार की वेदी बनाकर भात (ओदन) की चौंसठ आहुतियाँ विष्णु को दी जाती हैं। यह संस्कार पोषणकर्ता विष्णु के प्रति अभ्यर्थन के निमित्त किया जाता है।

४) जातकर्म संस्कार-

पुत्र- जन्म पर यह संस्कार होता है, जिस में आग से सरसों की धूनी दी जाती है और पुत्र का पिता पृथ्वी से प्रार्थना करता है कि, वह संतान से वियोग न होने दें। साथ ही एक पत्थर पर कुल्हाडी और उस पर सोना रखा जाता है, फिर उसे पलट दिया जाता है, जिस से पत्थर ऊपर आ जाता है और पत्थर पर नवजात शिशु को रखकर कहा जाता है, कि- पत्थर की तरह दृढ, लोहे की तरह रक्षक और सोने की तरह तपाने पर भी कांतिमय बने रहो, सौ वर्ष जियो-

अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव ।
आत्मा वै पुत्र नामाऽसि त्वं जीव शरदः शतम् ॥

५) नामकरण संस्कार-

नामकरण संस्कार जन्म के दसवें या बारहवें दिन प्रसूतिका के तीन स्नान के बाद संपन्न किया जाता है। इस समय अग्नि स्थापित की जाती है और उस में आहुति देकर पृथ्वी तथा वरुण की प्रार्थना की जाती है। इस के बाद दो या चार अक्षर का नाम दिया जाता है। दो प्रकार के नाम दिये जाते है- एक, जन्म नक्षत्र का नाम जो गुह्य होता है। दूसरा, पुकार का नाम, जो व्यवहार के लिए है। किसी-किसी गृह्यसूत्र

के अनुसार कन्या का नाम तीन या पाँच अक्षर का होना चाहिए। नाम को संस्कार मानना हिंदू चिंतन का द्योतक है। इस के लिये नाम केवल शब्द ही नहीं, एक कल्याणमय विचार भी है। नाम देते समय यह भी ध्यान दिया जाता है कि संतान के पिता या पितामह के एक नामाक्षर भी उस में आ जाय, जिस से की वह नाम एक सातत्य का सूचक हो। कृत्- प्रत्यय में नाम का अंत होना चाहिए, जिस से क्रिया शीलता बच्चे के जीवन में आये।

५) निष्क्रमण संस्कार-

निष्क्रमण संस्कार लोकाचार ही अधिक है। प्राय: घर से बाहर नवजात शिशु को खुले में ले जाने का संस्कार है। आँगन या घर के सामने सफाई करके उस पर स्वस्तिक चिन्ह बनाया जाता है, धान के लावे बिखेरे जाते हैं, तब उस स्थान पर बच्चा लाया जाता है और उसे सूर्यदर्शन कराया जाता है। इस का अभिप्राय 'असत्' के गर्भ से 'सत्' के प्रकाश में बच्चे को लाना है। पुरोहित को भोजन भी कराया जाता है।

६)अन्नप्राशन संस्कार-

प्राय: छटे महिने में बच्चे को सब से पहली बार अन्न दिया जाता है और वह अन्न प्राय: दूध में पके चावल की खीर होती है। इस में तीन मंत्र पढे जाते हैं, जिन का अर्थ है- हमें शक्ति मिले, भोजन का स्वाद मिले, सुगंधि का आनंद मिले। इस संस्कार का उद्देश्य यह है कि, अन्न हिंदू के लिए स्वयं एक पवित्र वस्तु है, इसीलिए उस का प्रथम आस्वद करते समय उस के माधुर्य के परिचय कराना और उस के तेज का परिचय कराना, उस के रस का परिचय कराना तथा उस के उष्ण स्पर्श का परिचय कराना है और इस मंत्रशक्ति का परिचय कराना और ऐंद्रिक अनुभव से भरे-पूरे संसार में उसे दीक्षित कराना है।

७) चौलकर्म संस्कार-

यह पहले, तीसरे या पांचवे वर्ष में जन्मकालीन केशोंका मुंडन संस्कार है। ये केश एक प्रकार से पूर्वकालिक अशुचिता के अवशेष माने जाते हैं और इन के मुंडन का उद्देश स्वास्थ्य तथा शरीर का नया संस्कार ही है। इसी समय शिखा भी रखी जाती है। इस की प्रक्रिया यह है कि, तीन बार ठंडे और गर्म जल की धार बच्चे के केशों पर

छोडकर वायु की आराधना की जाती है और दही तथा जल से बाल धोये जाते हैं तथा अदिती की स्तुति की जाती है। बालों को कुश से बांधे रखते हैं और एक बार उन लटों को काटते हुए शमी वृक्ष की पत्तियों के साथ केश काटने वाला बालक की माता को सौंपता जाता है और इस के बाद वह उन को गोबर से चिपका देती है। छुरे की धार पोंछते हुए यह कहा जाता है कि, इस का सिर पवित्र हो, यह दीर्घजीवि हो। बालकों के चोटी छोड दी जाती है। पहले एक शिखा से पांच तक गोत्रानुसार छोडते थे, अब एक छोडी जाती है। कहीं-कहीं पहले मुंडन में नहीं, अपितु दूसरी बार के मुंडन में शिखा छोडते हैं। यह मुंडन बालिकाओं का भी होता है, किंतु उन की शिखा नहीं छोडी जाती।

८) विद्यारम्भ या अक्षरारम्भ संस्कार-

यह प्राय: चौलकर्म के साथ ही होता है। इस में विष्णु, लक्ष्मी, सरस्वती, ऋषियों और कुलदेवता की स्तुती की जाती है और विष्णु, लक्ष्मी तथा सरस्वती को घृत की आहुती दी जाती है। बिखरे हुए पीले चावलों पर सोने की लेखनी या किसी फलवाले वृक्ष की टहनी से **ॐ सरस्वत्यै नम:, श्री गणेशाय नम:, ॐ नम: सिद्धाय** इस तरह बालक की उँगली पकडकर लिखाये जाते हैं। वेद के अलावा इतर विद्या की शिक्षा इसी समय से शुरु हो जाती है।

९) कर्णवेध संस्कार-

इस संस्कार को जन्म से पांचवे-छठे वर्ष के भीतर कभी भी करने का विधान है। वस्तुत: कर्णवेध आयुर्वेद का एक विधान है, कई रोगों के लिए यह निवारक का काम करता है। इसीलिए यह बालक तथा बालिका दोनों के लिए है।

१०) उपनयन संस्कार-

उपनयन का अर्थ होता है, गुरु के पास ले जाना। 'उप' यानी समीप, 'नयन' यानी ले जाना। आठ वर्ष की आयु में वटु को जनेऊ, चोटी (शिखा) और कृष्णाजिन आदि धारण करवाकर गायत्री मंत्र के उपदेश को प्रदानकर षडंग सहित वेदाध्ययन कराने के लिए आचार्य अपने गुरुकुल ले जाया करते थे, जिस के कारण इस संस्कार को 'उपनयन' कहा जाता है। अथर्ववेद में उल्लेख आता है - आचार्य ब्रह्मचारी का

उपनयन करते हुए मानो उसे गर्भ में धारण करता है। तीन रात अपने उदर में रखता है, बाहर आने पर उसे देखने के लिए देवताओं की भीड जमा हो जाती है। इस का महत्व सब से अधिक इसलिए है कि, यह मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश का द्वार है। इस के बाद उस का पुनर्जन्म होता है, एक प्रकार से प्राकृत शरीर की मृत्यु और उस में से एक नये भाव का आविर्भाव होता है। एक प्रकार से स्वच्छंदता में स्वतंत्रता के संक्रमण का प्रारंभिक बिंदु है। स्वच्छंदता का अर्थ है बंधन अस्वीकारना और स्वतंत्रता का अर्थ है आत्मसंयम से अपनी तथा समष्टि की इच्छा को जोडना। इस के बाद ही वेदाध्ययन का अधिकार है। इस के पूर्व अपरा या लोक विद्या तो अर्जित की जा सकती थी, परंतु परा या लोकोत्तर नहीं। यह दीक्षा सावित्री दीक्षा है, उस सविता की दीक्षा है जो अपने बाहरी प्रकाश से भीतरी प्रकाश को सक्रीय बनाता है और उस भीतरी प्रकाश को सक्रीय बनाकर मनुष्य को अपने प्रकाश से विश्व को आलोकित करने के लिए प्रेरित करता है। इसीलिए यह सविता से प्रेरित मंत्र- गायत्री मंत्र की दीक्षा है। इस उपनयन के साथ ही साथ यज्ञोपवीत, मेखला, मृगचर्म तथा दण्ड धारण भी होता है। यज्ञोपवीत के तीन सूत्र होते हैं- और प्रत्येक सूत्र में पुनःपुनः तीन सूत्र होते हैं। इस में तीन गाँठ रखी जाती थीं और इन गाँठों को सोम की नीवि (गाँठ) कहागया है। वस्तुतः यज्ञ की दीक्षा लेते समय ही यह मेखला बांधीजाती थीं और मेखला बांधते समय यज्ञकर्ता प्रजापति के रूप में अपनी अवधारणा करता था और इस रूप में उस का नया जन्म होता था, उस के पूर्व शरीर की मृत्यु हो गई मानी जाती थी। उपनयन के साथ यज्ञोपवीत को जोडने का अर्थ यही है कि, जैसे बच्चे अपने नालसूत्रसे पोषण करनेवाली माता से सम्बद्ध रहता है और उस के छेदन से वह स्वतंत्र हो जाता है, वैसे यज्ञ-ब्रह्म से संबंध बनाये रखने के लिए एक सूत्र आवश्यक होता है और जब उस के पोषण की आवश्यकता नहीं रह जाती, अहंता और ममता का त्याग हो जाने पर संन्यास में प्रवेश के पूर्व इस सूत्र का भी त्याग कर देना होता है। यह सूत्र एक प्रकार से प्रजापति के साथ तादात्म्य का स्मरण दिलाने वाला है, देवकार्य करते समय दाहिना कंधा मुक्त रखा जाता है, पितृ कार्य करते समय बाँया कंधा और दिव्य-मनुष्य-तर्पण करते समय इसे माला की तरह धारण किया जाता है। अपसव्य या पितृकार्य में यज्ञोपवीत का दायें कंधे पर रखने का अर्थ संभवतः देवगति (बायेंसे दायें) का पूरक बनना है (दायें से बायें) एक आगे जाना है, एक पीछे देखना
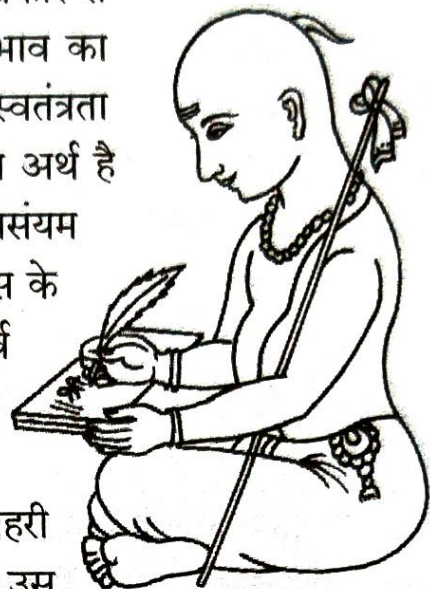
है। यज्ञोपवीत के लिए कंधे बदलना एक प्रतीकात्मक संकेत मात्र है। मल- मूत्र-त्याग के समय इसे दाहिने कान पर धारण किया जाता है, इस के पीछे वृत्ति निरोध की भावना संभवतः हो सकती है। उपनयन में यज्ञोपवीत के बाद ब्रह्मचर्य-आश्रम में प्रवेश का अधिकार होता है। ब्रह्मचर्य का अर्थ ब्रह्मा(प्रजापति) होकर कार्य करना, जिस में स्वाध्याय के साथ साथ सारे विश्व से भिक्षा माँगने का भाव निहित है, क्यों कि सब से लेने से ही अध्ययन में उदार दृष्टि, आगे की बात सोची जा सकती है।

११) वेदारम्भ संस्कार-

इस में चार प्रकार के वेद व्रतों का आरंभ सम्मिलित है। महानाम्नी, महाव्रत, उपनिषद और गोदान- ये चार व्रत कहे गये हैं। इस संस्कार के समय गुरु शिष्य को अग्नि के पास बैठाता है और निर्दिष्ट देवता के लिये उस से घृत की आहुति दिलवाता है। इस के साथ ही वेदराशिरूपी आलोकित ज्ञान के लिए और प्रजापति के लिए होम भी किया जाता है, तदनंतर संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद की तथा व्यकरण, ज्योतिष, छन्द, शिक्षा, कल्प, निरुक्त-इन वेदांगों की शिक्षा आरंभ होती है।

१२) केशांत या गोदान संस्कार-

पहले यह दाढ़ी-मूँछ के दिखने पर किया जाता था और यह प्राय: सोलहवें वर्ष में संपन्न होता था। इस समय एक बार केशवपन होता, तदनंतर गोदान करके किशोर नयी अवस्था में प्रवेश करने का संकल्प लेता था। पहले अध्ययन का कार्य बारह से सोलह वर्ष तक रहता था और अध्ययन के बीच में ही यह संस्कार संपन्न होता था, पर अब यह भी यज्ञोपवीत के साथ प्रतीकात्मक रूप में कर दिया जाता है।

१३) समावर्तन संस्कार-

समावर्तन का अर्थ घर लौटना है। गुरुकुल से लौटने पर पहला स्नान करके व्यक्ति ब्रह्मचारी के परिधान का त्याग कर देता है और गृहस्थ परिधान धारण करने का उपक्रम करता है। इस का मुख्य अनुष्ठान था स्नान। अत: लौटनेवाला 'स्नातक' कहा जाता था अर्थात विद्यारूपी प्रवाह में स्नान कर वह लौट रहा है, यह भाव रहता था। विद्यार्थी इस संस्कार के अवसर पर छाता, जूते, छडी, माला, पगडी, आभूषण

धारण करता है और गुरु को भी यही भेंट में देता है। इस संस्कार में मित्र और वरुण देवताओं की स्तुति का विधान है। इस के साथ - साथ स्तुति के कई सूक्त ऋग्वेद में मिलते हैं।

१४) विवाह संस्कार-

विवाह इस समय सब से महत्वपूर्ण संस्कार है। क्यों कि, यही एक ऐसा संस्कार है, जो सभी वर्णों में समानरूप से विशद अनुष्ठान के साथ संपन्न होता है और इस की विधी की पूर्णता की चिंता सब को रहती है। विवाह स्त्री-पुरुष संबंध को सामाजिक मान्यता तो प्रदान करता ही है, साथ में गृहस्थाश्रम में प्रवेश के लिए स्त्री-पुरुष के साहचर्य और सह धर्माचरण की भूमिका भी तैयार करता है। विवाह के लिए कई शब्दों का प्रयोग मिलता है। उद्वाह - इस का अर्थ है, कन्या को ऊपर ले जाना।

विवाह - इस का अर्थ है, कन्या को विशेष प्रयोजन से ले जाना। परिणय - इस का अर्थ है किसी के साथ परिक्रम करना और 'पाणिग्रहण' इस का अर्थ है हाथ पकडना। हिन्दू विवाह-संस्कार के कर्मकाण्ड के विशद होने के पीछे चार भावनायें काम आती हैं - पहली तो यह कि, विवाह के द्वारा दो कुल संबद्ध होते हैं और विवाह से उत्पन्न होनेवाली संतान दोनों कुलों में आगे बढनेवाली होती है।

दूसरी भावना यह है कि, स्त्री-पुरुष मिलकर पूर्ण इकाई बनते हैं और वह चाहे

वैदिक हो, चाहे स्मार्त या पूरा जीवन ही यज्ञरूप में भवित क्यों न हो, बिना सहधर्मचारिणी के नहीं किया जा सकता। हिन्दू-धर्म में सौभाग्य की देवता गौरी, शिव के आधे अंग के रूप में स्थित मानी जाती है इसीलिये स्त्री को अर्धांगिनी माना जाता है। इसी में उस की शोभा है, कोई भी अर्धभाग बेहतर या बदतर नहीं है, दोनों समान हैं। तीसरी भावना यह कि, विवाह एक आहुति की तैयारी है, जिस में पति-पत्नी दोनों सहभागी होते हैं, जिस में परिवार, गाँव, जनपद, देश, विश्व के प्रति उत्सर्ग करने की भावना प्रारंभ करते हैं। चौथी भावना यह है कि, विवाह एक स्थाई संबंध है। विवाह के समय ध्रुव का दर्शन करना, अरुंधती का दर्शन कराने के पीछे यही एक अभिप्राय निहित रहता है। विवाह का विधिवत् संस्कार तो ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य- इन चारों प्रकारों में ही होता है और इस विधिवत् संस्कार में मुख्य हैं-वाग्दान, मण्डप निर्माण और देवपूजन, अभ्युदयिक या वृद्धि-श्राद्ध, वरपूजन, गोत्रोच्चारपूर्वक कन्यादान और पाणिग्रहण, अग्नि-प्रदक्षिणा, लाजाहोम, सप्तपदी, अश्मारोहण, हृदयस्पर्श, ध्रुवदर्शन। कहीं कहीं सिन्दूरदान, त्रिरात्रव्रत और चतुर्थीकरण भी जुडते हैं। इन में भी चार अत्यंत आवश्यक हैं, इन के बिना विवाह अपूर्ण माना जाता है। ये चार हैं- कन्या का पाणिग्रहण, जिस में पिता वर से कहता है, तुम अपनी विवाहिता से धर्म, अर्थ, काम,का छल नहीं करोगे और वर प्रतिज्ञा करता है- छल नहीं करूंगा। इसी समय पिता कन्या का हाथ वर के हाथ में देता है और वर तथा कन्या की तीन पीढियों का स्मरण करतेहुए दोनों कुलों को याद किया जाता है।

१५) लाजाहोम -

इस में लावा से तीन अहुतियाँ दी जाती हैं। दो दायें और एक बाए और इसी समय वर-वधू प्रदक्षिणा करते हैं।

सप्तपदी- वेदी पर स्थापित अग्नि से उत्तर की ओर चावल की सात ढेरियों पर वर-वधू एक के पीछे एक पैर रखते हुए सात प्रतिज्ञा करते हैं। एक के बाद दूसरी प्रतिज्ञा एक-दूसरे के तादात्म्य की होती है, बिना इस क्रिया के विवाह पूर्ण नहीं माना जाता। आज-कल सप्तपदी और अग्निप्रदक्षिणा को मिलाकर सात भाँवरों के रूप में कर दिया गया है, पर सप्तपदी वस्तुत: सात प्रतिज्ञाओं का ही द्योतक है। इन के अलावा और अनुष्ठान हैं, उन में जहाँ तक चतुर्थीकर्म का प्रश्न है, वह अब लुप्तप्राय है, इस का प्रयोजन खीर की आहुति देकर वर-वधू को खिलाना है, जिस के बाद ही उन की शारीरिक संबंध होना काम्य है। तीन दिन तक इस प्रकार के एकीकरण के पूर्व

व्रत करना होता है, जिस से सूचित होता है कि, विवाह उद्दाम भोग के क्षेत्र में प्रवेश नहीं है, यह संयत जवन के आनंद की दीक्षा है।

विवाह के साथ ही साथ अधिकतर बहू विदा होती है और उस का प्रथम प्रवेश पतिगृह में मांगलिक विधि से होता है, उस का स्वागत घर की लक्ष्मी तथा गृहस्वामिनी के रूप में होता है। इसी एक भावना के कारण हिन्दू समाज में पुरुष की प्रधानता होतेहुए भी गृहक्षेत्र में नारी का अधिकार अधिक है, क्यों कि, वह गृहक्षेत्र में साम्राज्ञी के रूप में है। यही भावना मंत्रों द्वारा भरी जाती है और यही भावना हिन्दू-विवाह संबंध को स्थायी, पवित्र और संतुलित बनाये रखती है। कुछ लोग वानप्रस्थ और संन्यास को भी संस्कार मानते हैं पर वानप्रस्थ के लिये कोई विशेष विधान नहीं है, केवल घर छोडकर पति-पत्नी भोगसे विरक्त होकर वन में रहकर देवपूजन करने का संकल्प लेते हैं और परिवार का दायित्व प्राय: बडे पुत्र को या कुल के नये कर्ता को सौंप देते हैं।

संयास आश्रम वस्तुत: निर्वाणता की स्थिति का प्रारंभ है, इसीलिये शिखा-सूत्र इन सब का त्याग करना पडता है। सन्यासी होने के लिये विधान में सब से पहला यह है कि, मनुष्य अपने शारीर को शव मानलेता है और वह व्यक्ति के रूप में एवं शरीर के रूप में मृत होकर नारायण के साथ आत्मरूप होकर विचरण का संकल्प लेता है। उस के नियमों में काषाय वस्त्र, दण्ड-धारण और परिव्रजन आवश्यक है। वह किसी व्यक्ति या परिवार पर आश्रित नहीं रहता- पूरे समाज के लिये पूरे समाज पर आश्रित रहता है। वह प्रत्येक व्यक्ति में परमात्मा को देखता है और अग्नि का स्पर्श नहीं करता। अग्नि का स्पर्श करने का अर्थ है-कर्म का स्पर्श करना और वह कर्म चाहे शुभ हो या अशुभ, दोनों को ज्ञान की अग्नि में झोंककर संन्यास लियाजःता है। इसीलिये संन्यासी का अग्नि-संस्कार नहीं होता, उस का शव नदी में प्रवहित करदिया जाता है।

१६) अंत्येष्टि संस्कार-

अंत्येष्टि शब्द का अर्थ है, अंतिम यज्ञ। हिन्दू धर्म जीवन की निरंतरता में विश्वास करता है, इसीलिये मृत्यु को वह एक अर्द्धविराम मात्र मानता है, अवसान नहीं मानता, इसे दूसरे जन्म में प्रवेश का द्वार मानता है, जीवन की समाप्ति नहीं मानता। यहाँ उसे स्थूल शरीर की समाप्ति मानता है और मृत्यु के बाद स्थूल शरीर को

वह अशुचि मानता है, उसे छूने में अपवित्रता संसर्ग मानता है। मृत शरीर का दाह या प्रवाह करने के पीछे उद्देश्य यही है कि, कारणदेह के छोड देने पर स्थूल शरीर हेय है, वह पंचतत्वो का बना है, उसे पंचतत्वों को सौंप देना चाहिए। अग्नि पावक है, पवित्र करती है, अत: अग्नि को सौंपने से अधिक शुद्ध रूप में शरीर के तत्व वितरित होंगे, इसी भावना से दाह की मुख्य विधि है। प्रवाह सन्यासी के शरीर का ही होता है। उस का प्रयोजन यह है कि, सन्यासी शुद्धरूप से (वास्तव में) दूसरों के लिये ही जीता है। वह पवित्र है, उस का मृत शरीर भी जलचर प्राणियों के काम आये इसलिए उसे प्रवहित कर दिया जाए। दूसरा, यह भी है कि, सन्यासी सन्यास आश्रम में प्रवेश करने पूर्व अग्नि का परित्याग करचुका होता है, एक प्रकार से उस का ताप शांत हो गया होता है, वह अग्नि के व्यक्त रूप को छोडकर जल के अव्यक्त रूप में प्रविष्ट हो चुका होता है, वह सनातन प्रवाह हो चुका होता है, इसीलिये भी उस के शरीर को जल में प्रवहित कर दिया जाता है।
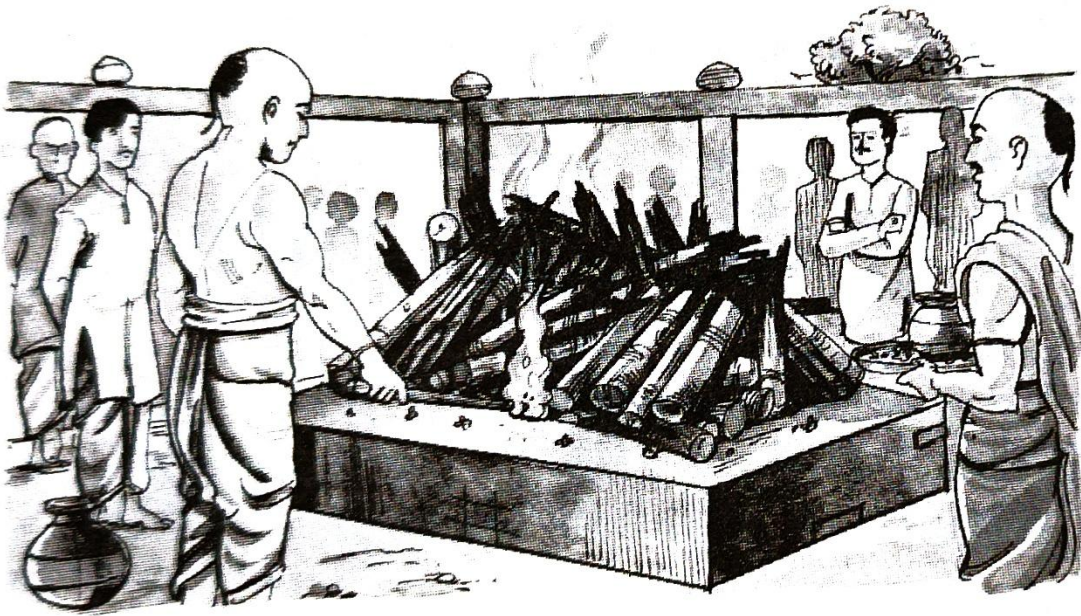
अग्नि-संस्कार के बाद जो भी अनुष्ठान होते हैं, वे पिण्डदानात्मक हैं, दस दिनों तक निरंतर एक-एक पिण्ड दिया जाता है, दाह तक १६पिण्ड शवयात्रा के दौरान दिये जाते हैं और इन सोलह के द्वारा कारण शरीर का पुन:संयोजन और पोषण प्रयोजित होता है। इस के बाद सपिण्डीकरण श्राद्ध के द्वारा मृत व्यक्ति को पितरों की श्रेणि में प्रवेश दिलाया जाता है, सपिण्डीकरण के पूर्व उस व्यक्ति की प्रेतसंज्ञा रहती है। वह शरीर और भावनात्मक अस्तित्व के बीच में लटकता रहता है, पितर होते ही वह एक भावनात्मक अस्तित्व बन जाता है, प्रेतदशा में उस की आसक्ति शरीर से बनी रहती है। प्रेतत्व मुक्ति का अर्थ है- जीव को संचरण केलियए मुक्ति दिलाना। इस के बाद उस जीव की स्मृति एक ऐसी शक्ति के रूप में सुरक्षित की जाती है, जो

चार पीढियों के साथ अपना एकीकरण स्थापित करने के लिये हैं, जिन के जीवकोश व्यक्ति में संक्रांत हुए हैं। हिन्दू धर्म सूक्ष्म को स्थूल में और स्थूल को सूक्ष्म में मंत्र भावना से रूपांतरित करने में विश्वास करता है। इस का अर्थ यह नहीं है कि, वह सूक्ष्म को स्थूल या स्थूल को सूक्ष्म देखता है। इस का प्रमाण यह है कि, हिन्दूधर्म स्थूल-पिण्ड भी इस सूक्ष्म भावना से देता है कि, इस का सूक्ष्म रस सूक्ष्म भाव से वर्तमान पितृसत्ता को मिलेगा और उस समय उस के लिये यदि पिता स्थूल आकार ग्रहण करके आये भी तो वे वास्तविक रूप से पिण्ड के भोगी नहीं होंगे, अपितु पिण्डभागी होंगे। आसनपर भावनाद्वारा उपस्थापित सूक्ष्म उपस्थिति होगी। श्राद्धकर्म जिस तृप्ति और पोषण के लिये किया जाता है, उस तृप्ति का हिस्सेदार श्राद्ध करनेवाला व्यक्ति स्वयं होता है, इसी कारण से अंत में श्राद्धपिण्ड को सूँघने का विधान है। श्राद्ध-संस्कार एक परंपरा की पूर्णता की अनुस्मृति का अनुष्ठान है। हिंदूधर्म का स्वरूप बाह्य दिखता है, पर वस्तुतः वह बाह्य न होकर अभ्यंतर है, वह परोक्ष का अनुभव है।

॥ आहारशुद्धता ॥

यथा अन्नं तथा मनः । जैसा अन्न वैसा ही मन । अन्न का मानव जीवन में अत्यंत महत्व है । पंच तत्वों से निर्मित इस देह को धारण किये रखने के लिए मनुष्य को अन्न की आवश्यकता होती है । अन्नमय, मनोमय, ज्ञानमय, विज्ञानमय और आनंदमय - इन पांच कोषों के विकास का मुख्य आधार अन्न ही है । मनुष्य जैसा अन्न ग्रहण करता है, उसी के अधार पर उस का अन्नमय कोष निर्मित होता है, उसी के अनुरूप मनोमय कोष अर्थात् मानसिक वृत्तियाँ स्थिर होती हैं तथा उसी के अनुसार ज्ञानमय एवं विज्ञानम कोष विकसित होते हैं । सत्- असत् अन्न के आधाार पर ही आनंद अथवा दु:ख की प्राप्ति होती है ।

जन्म से पूर्व गर्भ में ही शिशु को पिता के वीर्य तथा माता के रजोकणों से संस्कार मिलने लगते हैं । इसे ही विज्ञान की भाषा में वंशानुगत- संस्कार कहते हैं । पिता यदि सात्विक वृत्ति से प्राप्त अन्न को सेवन कर धर्म मार्गावलंबी है, तो बीजरूप में बालक को वे सात्विक गुण प्राप्त होते हैं । इसी प्रकार माता भी गर्भावस्था के समय में जैसा अन्न लेती है, वह अन्न रसरूप बनकर बालक को प्राप्त होता है, जो उस की शारीरिक तथा मानसिक रचना को प्रभावित करता है । गर्भस्थ शिशु पर पडनेवाले इस प्रभाव को आधुनिक विज्ञान भी स्वीकार कर चुका है ।

सत्वं रजस्तमा इति गुणा: प्रकृतिसंभवा:।

सत्व, रज, और तम - इस प्रकार मानव के गुण तीन प्रकार के होते हैं, जो प्रकृति से संभूत होते हैं ।

ज्ञाता सत्वगुण:शुद्धो भगानां साधनं रज: ।
भोग्यं तमोगुणं प्राहु: आत्मा तेषां प्रकाशक: ॥

सत्वगुण 'ज्ञान' की ओर प्रेरित करता है, रजोगुण विषय-भोग की ओर प्रेरित करता है तथा तमोगुण भोग साधना के लिए दुष्कर्म करने पर भी प्रेरित करता है और आत्मा इन तीनों गुणों से अलिप्त रहता है ।

एकाग्रचित्त, मन:शांति, बुद्धिस्थिरता आदि केवल सात्विक गुण के प्रबल रहने पर ही सिद्ध होते हैं। सत्वगुण के बिना भगवच्चिंतन में मन को संलग्न करना असंभव है। इसी लिये सत्वगुण की वृद्धि में सहकारी श्वेतवर्ण के वस्त्र को धारण करना, श्वेत वर्ण के भस्म का धारण करना आदि अनेक आचरणों के पीछे यही आशय होता है कि, उन के द्वारा हमारा मन सात्विक बने। श्वेत वर्ण के वस्त्र सात्विक भावना को प्रेरित और त्याग को सूचित करते हैं। उसी प्रकार आहार के नियम इसलिए बनाये गये हैं कि, तामसिक आहार सेवन से सात्विकता नष्ट न हो।

अपने सत्वगुण के वृद्धि हेतु ही सदाचारी ब्राह्मण अधिक तीखा अथवा अधिक मीठे पदार्थों का सेवन कतई नहीं करते हैं। प्याज, लहसुन इत्यादि कुछ तामसिक पदार्थों को सस्याहार होने के बावजूद सेवन करना निंद्य बताते हैं। आज के आधुनिक युग में भी केवल अपनी पत्नी के हाथों से अथवा स्वयं बनाए हुए आहार के अलावा बाहर या अपने बंधुओं के घर में भी भोजन न करनेवाले कर्मठ उपासक देखने को मिलते हैं। (मेरे गुरुवर्य अपने बंधुओं के विवाह में भी भोजन नहीं करते हैं) इस का उद्देश्य यही है कि, बाहर के अशुद्ध आहार सेवन से नकारात्मक शक्ति (nagative energy) संग्रहित होकर हमारे जप-तप-अनुष्ठानों से हमे विमुख न करे।

आहारशुध्या चित्तशुद्धि:। चित्तशुध्या धृवास्मृति:।

छान्दोग्य ७-२६

हमारी संस्कृति में भोजन की आंतरिक शुद्धता को उस के बाहरी स्वच्छता से भी अधिक महत्व दिया गया है। सर्वप्रथम तो अन्न शुद्ध होना चाहिए। स्थान स्वच्छ एवं पवित्र होना चाहिए, फिर बनानेवाले की मन:स्थिती पवित्र होनी चाहिए। अतृप्त, भूखा, लालची, क्रोधी, हीन, अस्वस्थ या कुत्सित रसोईया अपने संपर्क से ही भोजन को दूषित कर देता है। अन्न कितना ही संस्कार संपन्न हो, भोजन बनानेवाले की प्रवृत्ति भी अन्न को असंस्कृत बना देती है और भोजन करनेवाले पर ऐसे व्यक्ति के विचारों का बुरा प्रभाव पडता है।

केवल घर में माता या पत्नी के द्वारा बनाये गये अन्न को देवता-नैवेद्य करने के पश्चात् प्रसाद के रूप में सेवन करना उपर्युक्त समस्याओं का परिहार है। अब शास्त्रोक्त भोजन विधान पर किंचित् विचार करेंगे। प्रथमत: रंगवल्ली अथवा जल से चतुरस्र मण्डल रचाकर पांच उपचारों से मण्डल को पूजितकर उस मण्डलपर

भोजनपात्र(पत्रावली-थाली) को रखें।

आदित्या वसवो रुद्राः ब्रह्मा चैव पितामहः।
मण्डलन्तोपजीवन्ति तस्मात्कुर्वीत मण्डलम् ।।

द्वादशादित्यगण, वसुगण, एकादशरुद्र और ब्रह्मा - ये सभी मण्डल में निवास रहने के कारण मण्डल की रचना करनी चाहिए।

यातुधानाः पिशाचाश्च ह्यसुरा राक्षसास्तथा ।
घ्नन्ति ते बलमन्नस्य मण्डलेन विवर्जितम् ।।

यातुधान-गण, पिशाच, असुर, राक्षसादि क्षुद्रगण सूक्ष्मरूप में संचार करते रहते हैं, जो अन्न के बल को हरण करते हैं। अन्न-पात्र रखने से पूर्व किया गया मण्डल में देवता-सान्निध्य होने के कारण अदृश्यरूपी क्षुद्रशाक्तियों से अन्न के बल तथा सात्विकता की रक्षा होती है। भोजन प्रारंभ करने से पूर्व अन्न सभी प्रकारों से शुद्ध रहने के बावजूद **तत्सवितुः, विश्वामित्र सविता गायत्री, अन्न शुध्यर्थेप्रोक्षणे विनियोगः...** इस प्रकार गायत्री से तीन बार अभिमंत्रित जल से अन्न का प्रोक्षणकर अन्न को मंत्र-शक्तियुत बनायें और चित्रगुप्त, यमधर्म आदियों को बलिप्रदान करें।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ।।

भगवद्गीता

गीता में परमात्मा का वचन है कि, 'मैं वैश्वानर (अग्नि) के रूप में प्राणियों के देह में बसा हूँ, जो प्राण तथा अपान से युक्त रहकर लेह्य, पेय, चोष्य तथा खाद्य- इन चारों प्रकारों के अन्न को पचाता हूँ।

परमात्मा स्वयं मानव देह में अग्नि के रूप में स्थित होने के कारण भोजन भी एक यज्ञ-समान प्रक्रिया है। इसीलिये यज्ञ के प्रारंभ में जैसे अग्नि को उपस्तरण रखते हैं, उसी तरह 'अमृतोपस्तरणमसि' कहकर जलप्राशन के द्वारा अमृत को ही परिस्तरण बनाते हैं। उस के पश्चात् शरीर के भीतर स्थित पंचप्राणों की अर्चना होनी चाहिए।

प्राणापान:समानश्च, उदानव्यानौ च वायव:।
हृदि प्राणो गुदेऽपान: समानो नाभिसंस्थित:।।
उदान: कण्ठदेशस्थो व्यान: सर्वशरीरग: ।

प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान- ये पंचवायु अथवा पंचप्राण कहलाते हैं। हृदय में प्राण, गुदप्रदेश में अपान , नाभिदेश में समान, कंठ में उदान तथा संपूर्ण शरीर में व्यान व्याप्त रहता है । इन पंचप्राणों को एक-एक आहुति प्रदान करने के पश्चात् भोजन प्रारंभ करते हैं ।

भोजन के समय हम जैसे विचार-चिंतन करते हैं, उसी तरह से हमारा व्यक्तित्व बनता है । इसीलिए भगवान् का नामस्मरण करतेहुए भोजन करने का नियम हमारे पूर्वजों ने बनाया है। भोजन के उपरांत पुन: 'अमृतापिधानमसि' इस तरह अमृत को ही अपिधान (ढक्कन) बनाते हैं। इस प्रकार सभी आचार व्यक्ति की सात्विकता को बढाकर आत्मश्रेय के प्रति प्रेरित करते हैं।

।। यज्ञ और साधना ।।

यज्ञ का व्यापक अर्थ : सारी सृष्टि और सारे कर्म यज्ञ की प्रक्रिया से होते हैं। सभी जड या चेतन पदार्थों में कुछ भाग प्राण के रूप में बाहर जाता रहता है और उस की पूर्ति के लिये कुछ भाग दूसरी जगह से उस पदार्थ को मिलता रहता है । यही गति यानी अपने अंश का बाहर जाना और आगति यानी आयेहुए पदार्थ से उस की पूर्ति होना यज्ञ का व्यापक अर्थ है । इसी कारण प्रत्येक पदार्थ में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। इस प्रकार, यज्ञ से ही संसार उत्पन्न होता है और यज्ञ से ही उस की स्थिति रहती है।

संसार अग्नि और सोम का रूप है और इन दोनों के संयोग से संसार के सब पदार्थ बनते रहते हैं। यह प्रक्रिया हमारे शरीर में भी चलती है । हमारे जठर में जो वैश्वानर अग्नि है, उस में हम जो सोमरूप अन्न की आहुति देते हैं, उस से वह अन्न परिवर्तित होकर क्रमश: रस-रुधिर-मांस-मेदा-अस्थि-मज्जा-शुक्र और संयत पुरुष के ओज का रूप बनता है। इसी तरह स्त्री के गर्भाशय में जो अग्नि है, उस में पुरुष के रेत में स्थित सोम की आहुति होती है, जिस से बच्चे का जन्म होता है। इसी प्रकार मेघ से वर्षा

होकर पृथ्वी से अन्न की उत्पत्ति होना भी यज्ञ की प्रक्रिया है। यह यज्ञ निरंतर चलता रहता है। हम भूखे को भोजन, नंगे को वस्त्र, बेसहारे को स्थान, दु:खियों को सहानुभूति दे सकें।

पंचमहायज्ञों का उद्देश्य : इन यज्ञों का उद्देश्य मनुष्य को एक साथ उस के बाहर और भीतर के संसार से जोडना है। उसे यह अनुभूति करना है कि वह सृष्टि का एक अंश है अकेला नहीं है, सब से जुडा है। अपने को अकिंचन मानकर ही वह विश्व के साथ जुड सकता है, इस धारणा के साथ कि, उस का सुख और उस की सुरक्षा संसार के दूसरे प्राणियों के सुख और सुरक्षा से जुडे हैं। यह प्रक्रिया उसे संसार और ईश्वर से जोडती है, दूसरों के लिये त्याग और अर्पण की भावना कायम रखती है। आत्मशुद्धि का उद्देश तो पूरा होता ही है।

सात पाकयज्ञ : १) पितृश्राद्ध २) पार्वणश्राद्ध ३) अष्टका ४) श्रावणी ५) अश्वयुजी ६) आग्रहायणी ७) चैत्री - ये घर में किये जाते हैं।

सात हविर्यज्ञ : १) अग्न्याधेयम् २) अग्निहोत्रम् ३) दर्शपूर्णमास ४) आग्रायण ५) चातुर्मास्य ६) निरूढपशुबंध ७) सौत्रामणि:। -इन में अन्न, दूध, घी इत्यादि का दान नित्य (अग्निहोत्र), दर्श और पूर्णमास में (पक्ष समाप्ति पर) नये अन्न के साथ (आग्रायण), तीन ऋतुओं के अन्त में (चातुर्मास्य) करने का विधान है।

सात सोमयज्ञ (सोमयाग) : १) अग्निष्टोम २) अत्यग्निष्टोम ३) उक्थ्य: ४) षोडशी ५) वाजपेय ६) अतिरात्र ७) अप्तोर्याम:। - ये विभिन्न उद्देश्यों से यज्ञों के जानकार की सहायता से किये जाते हैं। श्रुति में इन यज्ञों का प्रतिपादन होने के कारण इन कर्मों को श्रौत-कर्म कहते हैं।

साधना : साधना का अर्थ है स्वयं को किसी अनुशासन से बांधकर और उस के माध्यम से अपना ध्यान केंद्रित करते हुए स्वयं को किसी विशेष दिशा की ओर उन्मुखकर उस से जोडना। योग भी साधना का ही नाम है।

योग : योग का अर्थ है, योजना करना अर्थात् जीवात्मा के साथ परमात्मा का मिलन करना। महर्षि पातंजलि ने अपने योगसूत्र में योग को 'चित्तवृत्ति निरोध' कहा है। जो चित्त बहिर्मुख होता रहता है, उसे अंतर्मुख करना या नियंत्रित करना,
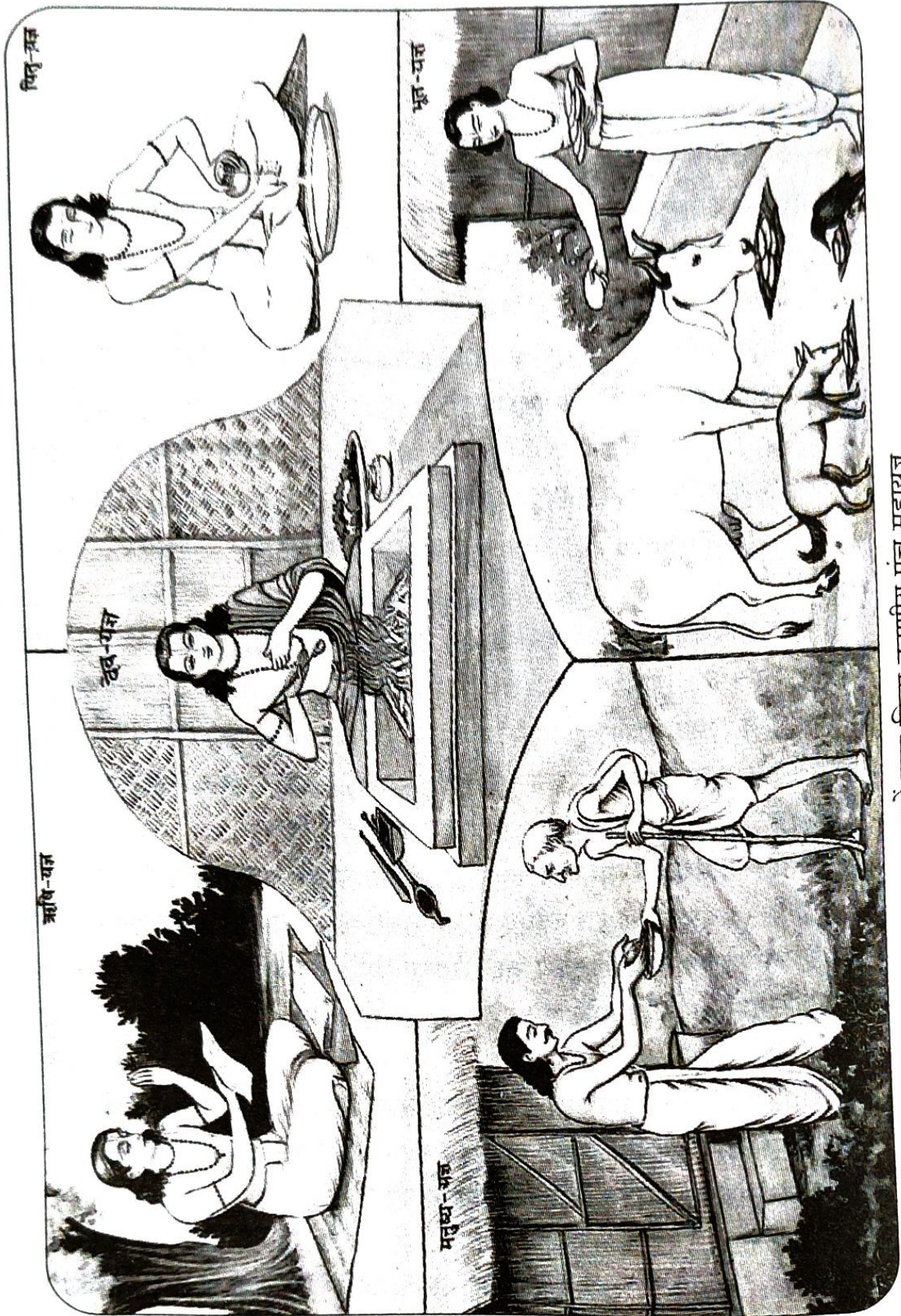
गृहस्थों द्वारा नित्य करणीय पंच महायज्ञ

सात्त्विक वृत्तियों में उसे लय करना चित्त के वृत्ति के निरोध की प्रक्रिया हुई। जो राज्य इन्द्रियों से दिखाई नहीं देता है, उसे अन्तर्मन से देखना योग है।

योग के आठ अंग : इसे अष्टांगयोग कहत हैं, यही राजयोग है।

१) **यम** : मन, कर्म, वचन से -हिंसा न करना, लोभ न करना, पवित्रता रखना, सत्यनिष्ठ होना, दान करना, इन्द्रियनिग्रह, तप, अस्तेय, तितिक्षा।

२) **नियम** : शरीर की देखभाल, स्नान, परिमित आहार आदि।

३) **आसन** : मेरुदण्ड के ऊपर जोर न देकर सर सीधा रखना।

४)**प्राणायाम** : प्राणवायु को वशीभूत रखने के लिये श्वास-प्रश्वास का संयम।

५) **प्रत्याहार** : मन को बाहरी विषयों से हटाकर उसे अंतर्मुख करके किसी विषय को समझने के लिये बारंबार विचार करना।

६) **धारणा** : किसी एक विषय में मन को एकाग्र करना।

७) **ध्यान** : किसी एक विषय में मन की लगातार चिन्ता।

८) **समाधि** : ज्ञान के प्रकाश की प्राप्ति, साधना का लक्ष्य। साधना और उपासना का उद्देश्य।

ज्ञान ही साधना का चरम उद्देश्य है। ऐसे ज्ञान की प्राप्ति जो मुक्ति दे, जो गीता में उक्त प्रकार से बंधमुक्त करे, हम कर्म करतेहुए भी कर्मफल से न बंधे। यह ज्ञान सुख-दुःख की जंजीरों से मनुष्य को मुक्त कराता है। साधना का मार्ग यह है, शरीर को साधना, उसपर अपना नियंत्रण करना, ताकि, मन की ऊर्ध्वगति हो, यानी मन की सत्वभाव में प्रतिष्ठा हो।

।। देवपूजा क्यों करते हैं?।।

नित्य और निराकार परमात्मा तो अद्वैत (एकमेव) ही है। परंतु उस निर्गुण परमात्मा के स्वरूप को जानने के लिए और चिंतन (ध्यान) करने के लिए कलियुग के मानव असमर्थ हैं। इसलिए मूर्तिपूजन की प्रथा को प्रारंभ किया गया है। जैसे नन्हे-नन्हे बच्चे अपने पैरों पर खडे होने के लिए सक्षम होते ही त्रिचक्र-वाहन, या अपनी माँ का हाथ का सहारा लेकर चलना सीखते हैं, दौडना सीखते हैं और आगे चलकर जीवन के लंबे प्रयाण को पूरा करते हैं, उसी तरह मानव देवपूजा, भजन-कीर्तन आदियों द्वारा अपने मन को परमात्मा के चिंतन में लग्न बनाने के लिए सीखकर परमेश्वर के स्वरूप को जानकर मोक्ष-साधना के मार्ग में बहुत-कुछ करना होता है*।

---

*१) यह कीर्तन, भजन और प्रार्थना तो बहाना है। यह तो केवल इस बात के लिए सहाय है कि, तुम्हारा सक्रिय मन निष्क्रिय हो जाए। क्यों कि, तुम्हारे सक्रिय मन के कारण तुम्हारी गहराई की अवाज तुम्हारी ओर आती भी है, तो तुम तक पहुंच नहीं पाती-तुम इतने शोरगुल से भरे हो।

२) मूर्तियां सभी बहाने हैं। उन के बहाने तुम अपने ही अचेतन में डुबकी लगाते हो। मूर्ति को सतत देखते-देखते तुम्हारा जो साधारण चेतन मन है, वह शान्त हो जाता हैऔर तुम्हारे अचेतन से खबरें आनी शुरू हो जाती हैं

-अचार्य रजनीश (OSHO), अपनी अष्टावक्र महागीता में।

भाग ४-प्रवचन १

गृहस्थों को प्रात: संध्यावंदन के पश्चात् प्रतिदिन देव-पूजा का विधान है। शैवपंथ के शिवपंचायतन, वैष्णव पंथी लोग विष्णुपंचायतन आदि की पूजा करते हैं। पंचायतन नहीं रखनेवावाले लौकिक लोग भी कोई प्रतिमा या भावचित्र की ही सही, पूजा अवश्य करते हैं। परमात्मा निर्गुण होने के बावजूद हमारी उपासना की सुविधा के लिए उसे हम सगुण रूप आरोपितकर पूजा करते हैं, जिसे सगुणोऽपासना कहते हैं। इस सगुणोपासना के अंतर्गत देवपूजा में अनेक प्रकार के विधान हैं, जो अपने-अपने अनुकूल के अनुसार बनाए हुए हैं। परंतु वेदव्यास द्वारा प्रतिपादित षोडशोपचार यानी १६ उपचारों वाली पूजा अत्यंत प्रशस्त और प्रसिद्ध है। निम्न में इस षोडशोपचार पूजा के अंतरार्थ को जानने का प्रयास किया गया है।

अवाहन, आसन, पाद्य, अर्घ्य, अचमन, स्नान, वस्त्र, उपवीत, गंध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, मंत्रपुष्प, प्रदक्षिणा, और नमस्कार- इन सोलह उपचारों से पूजा की जाती है। पूजा के प्रारंभ में किए जानेवाला ध्यान एवं नैवेद्य के उपरांत के तांबूल-समर्पण और मंगल नीराजन (आरती) को १६ उपचारों की गणना में नहीं लिया जाता है।

१६, यह परिपूर्ण संख्या है। अमावास्या से पूर्णिमा पर्यंत के सोलह दिनों में चंद्र अपने परिपूर्णत्व को प्राप्तकर पूर्णिमा के दिन षोडश कलायुक्त होकर पूर्णरूप से दिखाई देता है। आधुनिक युग में भी रुपयों की गणना करते समय १६ आणा को एक रुपया (२५ पैसों को चार आणा, ५० पैसों को आठ आणा) कहा जाता है। १६, यह संख्या परिपूर्णत्व यानी परिपूर्ण परब्रह्म का ही प्रतीक है, इसीलिए पूजा को १६ उपचारों द्वारा करते हैं।

पूजा का मूल तथ्य यह है कि, पूजक पूजा के आरंभ में स्वयं को परमात्मा से भिन्न यानी सामने रखीगई प्रतिमा को देवता मानकर पूजा प्रारंभ करता है, पूजा के अंत में 'अहं ब्रह्मास्मि' यानी 'मै स्वयं सत्, चित्, आनंदरूपी परमात्मा हूँ' इस अभिप्राय पर आ पहुंचता है। इस बात को ठीक समझने के लिए पूजा-विधान को विश्लेषणात्मक दृष्टि से अध्ययन करना होगा।

पहले निर्जीव प्रतिमा में आवाहन के द्वारा दैवत्व को आरोपित करते हैं। उस के पश्चात उस देवता को आसन, पाद्य (पादप्रक्षालन हेतु जल), अर्घ्य(हस्तजल), और अचमन(पेय जल) समर्पितकर उपचरित करते हैं, जैसे घर को आए हुए अतिथि का सत्कार करते हैं, वास्तव में जल स्नेह का संकेत है। इस के अतिरिक्त प्रतिमा के

अधोभाग में पाद्य, मध्यभाग में अर्घ्य और ऊपरी भाग में आचमन के रूप में जलस्पर्श कराने से प्रतिमा के अंतर्गत दैवीशक्ति शांत तथा प्रसन्न होती है।

यह विज्ञान सिद्ध बात है कि, जल मे प्राणशक्ति है, इसीलिए प्रतिमा को धाराशायी के रूप में अभिषेक के द्वारा प्रतिमा की प्राणवृद्धि की जाती है। भगवान् शिव रुद्र होने के कारण उस रौद्रत्व को शांत करने के लिए रुद्राभिषेक की विशेष प्रक्रिया बनाई गई है। उस के पश्चात् वस्त्र, उपवीत एवं शीत और उष्ण के समतोलन हेतु तथा सुगंध के लिए चंदन का समर्पण करते हैं, जिस से देवता का विश्वास प्राप्त होता है।

उस के पश्चात् पुष्प समर्पित करते हैं। पुष्प आकाशतत्व है, उसे समर्पितकर देवता को ऊंचे होने का सम्मान देते हैं। सभी प्रकार के दुर्गंध के निवारण हेतु धूप जलाया जाता है, जिस के सुगंध से उस परिसर में एक दैविकता सी आ जाती है। धूप (वायुतत्व) को जलाकर यह अनुभव होता है कि, देवता की कृपा हो गई है। कपास की बत्ती और घी से जलाए गए दीप की कांति से देवता के साथ पूजक भी प्रसन्न-चित्त बन जाता है। दीपक सूर्यतत्व है, जो भक्त और देवता दोनों के भीतर के प्रकाश को जोडता है।

धूप तथा दीप के पश्चात् नैवेद्य होता है। जिस परमात्मा में यह पंचभूतात्मक विश्व समाया हुआ है, उस सर्वशक्त को हम भोजन क्या खिलायेंगे? परंतु नैवेद्य का उद्देश्य वह नहीं है। नैवेद्य के रूप में मधुर पदार्थ निवेदित करके उसासक स्वयं को पूर्णरूप से समर्पित करता है। यह नैवेद्य उस देवता के प्रसाद या प्रसन्नता के रूप में ग्रहण करता है।

भारतीय जीवन-विधान में केवल अपने लिए या अपने परिवार के लिए खाना पकाना नीच कर्म बताया जाता है। भोजन हेतु बनाए गए पदार्थों को देवता-समर्पण कर उसे अतिथियों को भोजन करवाकर पशु-पक्षियों को भी तृप्त करवाकर बचेहुए अन्न को प्रसाद के रूप में स्वीकार करना होता है, जो गृहस्थ आश्रम का धर्म है।

आतिथ्यं शिवपूजनं प्रतिदिनं मिष्टान्नपानं गृहे।
साधोःसङ्गमुपासते च सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः।।

घर में देवता-पूजन, अतिथ-पूजन, पशु-पक्षियों का पालन, - ये पंचमहायज्ञ के अंगभूत गति-विधियों को संपन्न करना गृहस्थों का नित्यकर्म और धर्म है।

देव-पूजा में नैवेद्य के उपरांत के मंगल नीराजन(आरती) के मंत्रों में* परमात्मा के अंतर-बाह्य व्याप्त विश्वरूप का वर्णन होता है। नीराजन को कर्पूर से जलाया जाता है। कर्पूर जलते-जलते घटते जाता है और ज्योति बढती जाती है। इस का अंतर्भाव यह है, कि पूजक का पाप, अज्ञान कर्पूर की भाँति घटे और ज्ञान, आरोग्य, ऐश्वर्य ज्योति की तरह वृद्धिंगत हो। अरती के समय में कर्पूर के उजाले के कारण पूजक एवं भक्तों को अलंकृत प्रतिमा का संपूर्ण दर्शन प्राप्त होता है**। आरती में घंटे और शंख के नाद से एक गूंज उठती रहती है। प्रकाश को नाद से जोडने काम होते रहता है। इस प्रकार देवता के आकर के चिंतन से पूजन प्रारंभितकर सूक्ष्म सत्ता, शून्य और बिन्दु का क्रमशः चिंतन होता है और फिर केवल नाद रह जाता है। नीराजन के उपरांत १४ वा उपचार मंत्रपुष्प समर्पित किया जाता है। मंत्रपुष्प के समय पठन किए जानेवाले मंत्रों में भी परमात्मा के सर्वव्यापकत्व का वर्णन सविस्तार है। **'यच्च किंचित् जगत् सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा । अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणःस्थितः' ॥** - इत्यादि मंत्रों से पूजक निर्गुणोपासना की ओर बढता है। इस अंतर्भाव के अलावा आगम शास्त्र में उक्त नियमों के अनुसार पूजा करने से पूजा का सत्फल अवश्य प्राप्त होता है। आगम में विविध देवताओं की उपासना विविध प्रकार से बताई गई है। पूजा के लिए प्रतिमा कैसे बनवायें, प्रतिमा का आकार या परिमाण क्या हो, उस की स्थापना कैसे करें, पूजा में किन पुष्पों का उपयोग करे, किन पुष्पों का न करें, पूजा के समय बजाने वाले घंटे को किस प्रकार बनवायें, उसे किस प्रकार बजायें, किस समय में बजायें, कितनी देर तक बजायें- इस प्रकार के हजारों नियम हैं, जिन का पालन करने से उस प्रतिमा में देवता का निवास सिद्ध होकर पूजा का फल पूजक को अवश्य प्राप्त होता है ।

---

*भक्तिप्रधान संप्रदायों में आरती को विशेष महत्व दिया जाता है और आरती के समय गीत भी गाये जाते हैं, जिन में देवता के संकीर्तन की माध्यम से परमात्मा के अद्वैतता का प्रतिपादन होता है। भारत के जिन-जिन प्रांतों में वैदिक संप्रदाय नष्ट हुआ है, उन प्रांतों में कई महापुरुषों ने या अवतार-पुरुषों ने भक्ति-मार्ग के द्वारा जन-सामन्य को दैवी उपासना की ओर आकर्षित किया है, जिस के कारण संपूर्ण भारत में भक्ति-पंथ फैला हुआ है । दक्षिण भारत में आज भी कुछ एसे संप्रदाय हैं, जिन में वेदों के अध्ययन ही नहीं अपितु वैदिक संप्रदाय का आचरण भी होता है।

**आगम शास्त्र के अनुसार निर्माण किया गए मंदिरों में विद्युद्दीप (electric light) नहीं लगाया जाता है।

यज्ञोपवीत (जनेऊ) धारण क्यों?

सामान्य अर्थों में यज्ञोपवीत तीन धागों के जोड में लगी ग्रंथि (गाँठ) से युक्त सूत की एक माला है, जिसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य धारण करते हैं। वैदिक अर्थों में यज्ञोपवीत शब्द 'यज्ञ' और 'उपवीत' इन दो शब्दों के योग से बनता है, जिस का अर्थ है यज्ञ से पवित्र किया गया सूत्र। यज्ञोपवीत को ब्रह्मसूत्र भी कहते हैं। यहाँ बताना उचित होगा कि, साकार परमात्मा को 'यज्ञ' और निराकार परमात्मा को 'ब्रह्म' कहा गया है। इन दोनों को प्राप्त करने का अधिकार देने वाला यह सूत्र यज्ञोपवीत है। यज्ञोपवीत को उपनयन संस्कार के समय वटु को धारण करवाया जाता है, जिसे आधुनिक लोग जनेऊ कहते हैं।

यज्ञोपवीत की उत्पत्ति और प्रचलन का कोई ऐतिहासिक प्रमाण प्राप्त करना या कालनिर्धारण करना मानव बुद्धि की बात नहीं है। इस का संबंध तो उस काल से है, जब प्रलय के गर्भ में अनंत काल से प्रस्तुत मानव सृष्टि का नवोदय हुआ था। उस समय सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी स्वयं उपवीत धारण किए हुए थे। इसीलिए उपवीत धारण करते समय इस मन्त्र का पठन किया जाता है- यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्...। साररूप में यह मंत्र ही यज्ञोपवीत की उत्पत्ति का स्पष्ट संकेत देता है। वेद में इस के उल्लेख से स्पष्ट होता है कि, यज्ञोपवीत किन्ही परिवर्तित ऋषियों द्वारा निर्मित सूत्र नहीं था और न किसी सामाजिक या विद्याचिन्ह के रूप में स्थापित कियागया है।

यज्ञोपवीत निर्माण की जो विशेष प्रक्रिया निश्चित की गई है, वह स्पष्टतया प्रतिपादित करती है कि, यज्ञोपवीत ईश्वर द्वारा द्विजाती को सौंपे गए उत्तरदायित्वों के निर्वहण के लिए गुरु के सन्निध्य में आवश्यक शिक्षा और योग्यता प्राप्त करने हेतु प्रस्थित होने की उदात्त भावनाओं से युक्त संकेत है। यज्ञोपवीत के निर्माण के संबंध में प्रथम प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, यज्ञोपवीत का परिमाण (लम्बाई) ९६चौआ ही क्यों निर्धारित किया गया? यदि इस का परिमाण कम या अधिक हो जाता तो उस से क्या हानी हो जाती?*

१) यज्ञोपवीत कटि तक ही रहे -

पृष्ठदेशे च नाभ्यां च धृतं यद्विन्दते कटिम्।
तद्धार्यमुपवीतं स्यादतिलम्बं न चोछ्रितम्।।
आयुर्हरत्यतिह्रस्वं अतिदीर्घं तपोहरम् ।
यशो हरत्यतिस्थूलं अतिसूक्ष्मं धनापहम्।।

महर्षियों और शास्त्रकारों ने इस आधार पर यज्ञोपवीत का परिमाण निर्धारित किया कि, धारण करने पर वह पुरुष के बांयें कंधे के ऊपर से आता हुआ नाभि को स्पर्शकर कटि तक ही पहुंचे। इस से न तो ऊपर रहे और न ही नीचे। यज्ञोपवीत अत्यंत छोटे होने पर आयु का तथा अधिक बडा होने पर तप का नाश होता है। अधिक मोटा रहेगा तो वह यश नाशक और पतला होगा तो धन की हानी होगी।

इस निर्णय को सामुद्रिक शास्त्र ने उचित ठहराया है। उस के अनुसार मनुष्य का कद और स्वास्थ्य कैसा भी हो, मानव शरीर का आयाम ८४ अंगुल से १०८ अंगुल

---

* यज्ञोपवीत को स्वयं ही बनायें, क्यों कि, अन्यों के हाथों बने हुए उपवीत को धारण करना निन्द्य है। यज्ञोपवीत को बनाते समय निर्दिष्ट मंत्रों का पठन अवश्य करें। शुद्ध कपास को कातकर एक लंबी कात बनायें। उस कात को खण्डित नहीं करते हुए त्रिवर्तित कर अपने हाथ के माप से ९६ चौआ लम्बा एक सूत्र बनायें। उस सूत्र को भी खण्डित नहीं करते हुए नौ बार मोडकर गाँठ बांधना चाहिये। इस प्रकार यज्ञोपवीत में ऊपर से तीन सूत्र गोचर होते हैं परंतु वह ९६ चौआ लंबा एक ही अखण्ड सूत्र और उस के भीतर(९६X३ = २८८) २८८चौआ लंबा एक अखण्ड कात(तंतु) होता है। (तीन तंतुओं से युक्त सूत्र को अपने दाहिने हाथ की चार अँगुलियों पर ९६ बार लपेटा जाता है, जिस माप को चौआ कहा जाता है)

तक ही होता है। अतः इस परिमाण वाला यज्ञोपवीत हर स्थिति में कटि तक ही रहेगा। न ऊपर न ही नीचे।

२) गायत्री के २४ अक्षर-

चतुर्वेदेषु गायत्री चतुर्विंशतिकाक्षरी ।
तस्माच्चतुर्गुणं कृत्वा ब्रह्मतन्तुमुदीरयेत् ।।

गायत्री वेद माता है। यज्ञोपवीत निर्माण और उसे अभिमंत्रित करते समय गायत्री मंत्र के पठन को प्राधान्यता दी गई है। गायत्री मंत्र में २४ अक्षर हैं। चारों वेदों में व्याप्त गायत्री छंद के संपूर्ण अक्षरों को मिला दें तो २४x४ =९६ अक्षर होते हैं। इसी के आधार पर उपवीत धारण के कारण द्विज बालक को गायत्री और वेद दोनों का अधिकार प्राप्त होता है। इसी लिए ९६ चौआवाले यज्ञोपवीत को ही धारण करने का विधान किया है।

३) वैदिक मंत्रों की संख्या के आधार पर -

वर्णाश्रम व्यवस्था में ब्रह्मचर्याश्रम के अंतर्गत द्विजबालक को गुरु के सान्निध्य में उन की सेवा करतेहुए वेदाध्ययन सहित नैतिक कर्म, उपासना अदि की शिक्षा प्राप्त करने के अनंतर गृहस्थाश्रम का अधिकार प्राप्त होता है। चतुर्थाश्रम संन्यास ग्रहण करने पर वह द्विज कर्म और उपासना से पूर्णरूप से मुक्त हो कर केवल ज्ञानप्राप्ति का अधिकारी रह जाता है। इस स्थिति में शिखा और यज्ञोपवीत - इन दोनों का त्याग कर देता है। वेद की मर्यादा के अनुसार उपनीत होने वाले द्विज को ही वेद और कर्मकाण्ड का अधिकारी बनाया गया है।

लक्षं तु चतुरो वेदा लक्षमेकं च भारतम्।

इस आप्तवचन में वैदिक मंत्रों की संख्या एक लाख बताई गई है। वेद भाष्य में पतंजलि ने भी इस बात की पुष्टि की है। इन एक लाख मंत्रों में ८०,००० मंत्र कर्मकाण्ड के संबंध में, १६००० मंत्र उपासना काण्ड समबंधी और ४००० ज्ञान काण्ड के यानी उपनिषत् के मंत्र हैं। चूं कि, उपनयन से उपनीत को कर्मकाण्ड तथा उपासना काण्ड का अध्ययन करने का अधिकार प्राप्त होता है, अतः कर्म

तथा उपासना काण्डों के अंतर्गत ९६,००० मंत्रों के अध्ययन का अधिकार प्राप्त होने के संकेत में उपवीत का परिमाण ९६ चौआ होता है।

४) तिथी, वार, नक्षत्र, गुण आदि के अधार पर -

मानव जीवन भाग्य से प्राप्त होता है। यह जीवन तत्व, गुण, तिथि, वार, नक्षत्र, काल, मास आदि विविध भागों से निरंतर संपर्क में रहने के कारण उन से प्रभावित होता रहता है। अत: जीवन के एक-एक क्षण को प्रभु का अमित वरदान समझनेवाले महर्षियों ने इन भागों के महत्व को समझकर उन का अवलंबन कर के ब्रह्मप्राप्ति का शाश्वत लक्ष्य मनुष्य के लिए निर्धारित किया। इन सभी पदार्थों की संख्या का समन्वित योग किया जाय तो आश्चर्य होगा कि, यह भी ९६ का योग बनता है। यथा - मनुष्य के सत्, रज और तमोगुणमय प्रकृतिदत्त शरीर में पंचभूत, पांच कर्मेन्द्रियाँ, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच प्राण और चार अंत:करण का योग २४ बनता है। इस २४ तत्वों से युक्त शरीर पर उपवीत के सूत्र को तीन बार लपेटने का उद्देश्य स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर का संकेत दर्शाना होता है। २४ तत्वों के त्रिगुणात्मक आवृत्ति से बहत्तर का योग बनता है। २४x३=७२। २४ अक्षरों से युक्त गायत्री की उपासना से त्रिविध शरीर का भेदन यानी मुक्ति संभव है। यदि इन सब का योग करें तो परिणाम ७२+२४= ९६ आता है। अत: इन तत्वों के भेदन के लिए गायत्री जपते रहने के संकेत में ९६ चौआ परिमाण वाले यज्ञोपवीत को धारण कराने का विधान किया गया है।
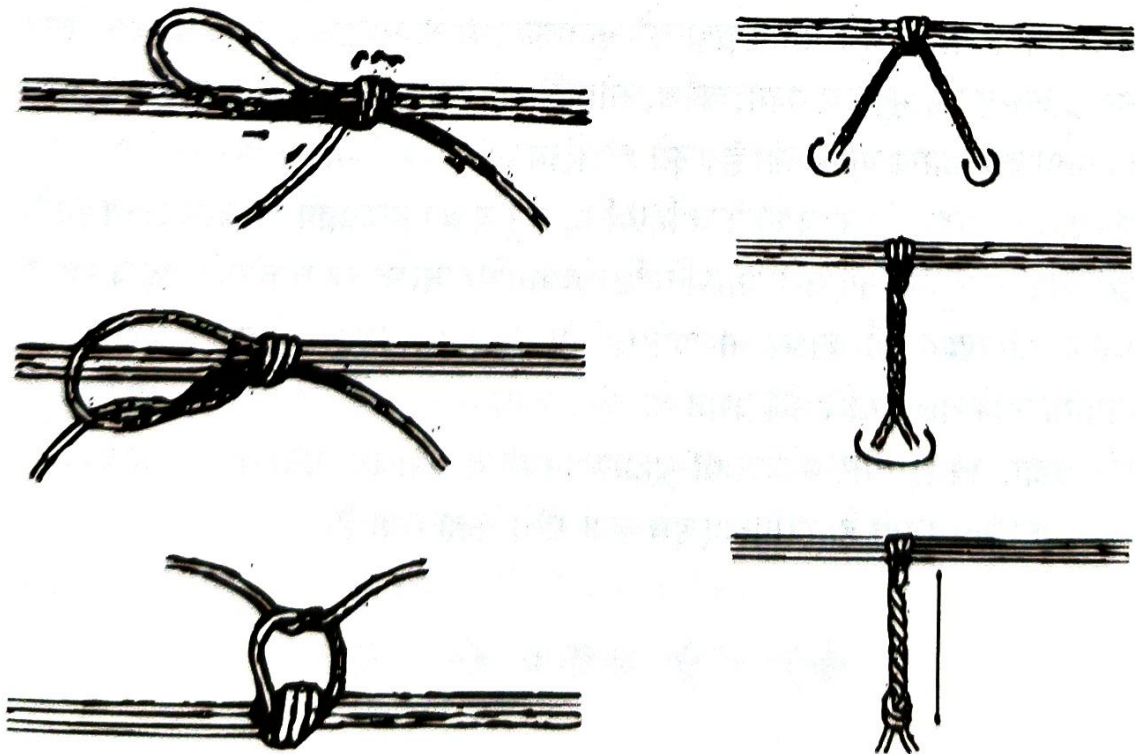
इस गूढ तत्व को अन्य दृष्टिकोण से भी समझा जा सकता है। सामवेद के छान्दोग्य उपनिषत् के परिशिष्ट में कहा गया है कि, -

तिथि वारं च नक्षत्रं तत्त्ववेदगुणान्वितम्।
कालत्रयं च मासाश्च ब्रह्मसूत्रं हि षण्णवम्।।

हमामरा शरीर २४ तत्वों से बना है। इस में सत्व, रज और तम- ये तीन गुण सर्वदा व्याप्त रहते हैं। फलत: २४ तत्वात्मक शरीर को तिथि, वार, नक्षत्र आदि विविध भागों में विभक्त रहकर अनेक संवत्सर पर्यंत इस संसार में जीवन धारण किए रहना पडता है। यदि इन का योग करें तो यह भी ९६ ही होता है। तिथि -१६, वार-७, नक्षत्र-२७, तत्व-२४, वेद-४, गुण-३, काल-३, मास-१२-इन का कुल योग ९६ आता है।

५) ब्रह्मग्रंथि की आवश्यकता-

यज्ञोपवीत में नौ सूत्रों को त्रिगुणात्मक बनाकर तीन सूत्रों में परिवर्तित कर उस का त्रिवृत्करण करके उस के मूल को जोडने में प्रणवरूपी महामंत्र का उच्चारण करते हुए ब्रह्मग्रन्थि (गाँठ) लगाये जाने का विधान किया गया है। इस ब्रह्म ग्रन्थि के लगने पर ही उपवीत धारण करने योग्य बनता है। ब्रह्म ग्रंथि को लगाने का अभिप्राय यह है कि, मनुष्य प्रतिक्षण ध्यान में रखें कि, यह समस्त विश्व ब्रह्म से प्रादुर्भूत हुआ है और उसी में समाया हुआ है। यदि मानव ब्रह्म को भुलाकर उस के मायाजाल में फँस जाता है तो वह ब्रह्मतत्व को भूलकर काम, क्रोध, मोहादि सांसारिक विकारों से लिप्त होकर अपने ही पतन का कारण बनसकता है। उसे प्रचलित लोकोक्ति 'गाँठ बान्धलेना' को ध्यान में रखते हुए एक गाँठ बांध लेनी चाहिए कि, मनुष्य का ब्रह्मप्राप्ति ही चरम लक्ष्य हैऔर इसे प्राप्त करने के लिए उसे शास्त्रनिर्दिष्ट श्रेयमार्गपर चलते रहना होगा। यज्ञोपवीत के धारण का उद्देश्य और लक्ष्य भी यही रहा है। अत: इस के मूल में प्रणव-मंत्र के साथ लगायी जाने वाली ग्रंथि उसे प्रणव के अ+उ+म् -इन वर्णों, सत्व, रज, तम इन गुणों एवं ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूपी ब्रह्माण्डनियामक त्रिविध शक्तियों के सामिप्य का ध्यान दिलाती रहती है। इसीलिए इसे ब्रह्म ग्रंथि कहा गया है।

।। शिखा या चोटी धारण क्यों ।।

मानव शरीर की समस्त प्रवृत्तियों का केन्द्र मस्तिष्क है। यह शरीर का नियंत्रणकक्ष है, जहाँ से शरीर के अगों द्वारा अनुभूत संवेदनाओं को ग्रहणकर अवशेषों द्वारा निर्देश प्रेशित होते रहते है। अत: मस्तिष्क का विकसित, परिष्कृत और व्यवस्थित होना अवश्यक है। यह तभी संभव है, वह पूर्ण सुरक्षित और ज्ञानस्रोतों से संयुक्त हो।
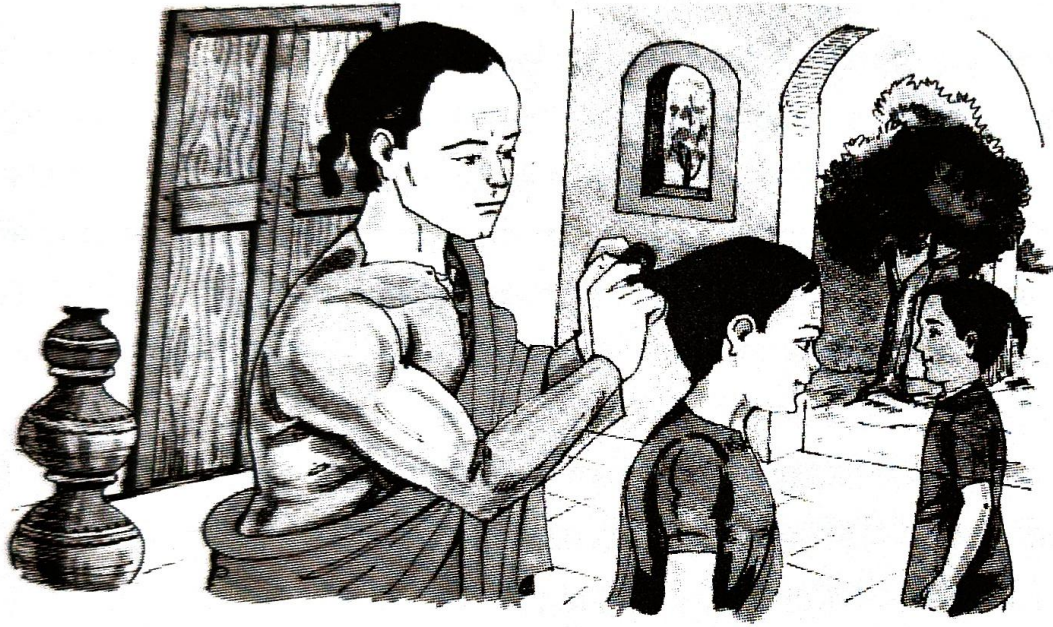
जिस तरह आधुनिक जगत् में शासन अपने अत्यंत महत्वपूर्ण एवं संवेदनाशील विभागों की रक्षा के लिए अभेद्य रक्षाकवच की व्यवस्था करता है, ठीक उसी तरह प्रकृति ने भी मानव शरीर के कोमल अगों को अनेक प्रकारों से प्राकृतिक सुरक्षा -कवच प्रदान कर न केवल सुरक्षित किया, अपितु इतना सबल बनाया कि, बडे से बडे अघातों को सह सके और सुरक्षित रहकर कार्य करते रहें। व्यासजी द्वारा प्रतिपादित षोडश संस्कारों में प्रारंभिक सात संस्कार बालक के गर्भवास से उत्पन्न मलिनता को दूर करने के लिए विहित हैं। आठवाँ संस्कार 'चूडाकर्म', मुण्डन या शिखा धारण नामक संस्कार है, जो आज-कल उपनयन के दिन ही संक्षिप्त रूप से किया जाता है। चूडाकरण संस्कार द्वारा बालक के सिर पर 'शिखा' को धारण करवाने के सम्बंध में महर्षियों तथा वैज्ञानिकों द्वारा बनाये गए निम्न तथ्यों पर ध्यान देने की आवश्यकता है।

यजुर्वेद के अन्तर्गत शिक्षावल्ली में शिखा रखने के रहस्य को इसप्रकार बताया गया है।-

अन्तरेण तालुके। य एष स्तन इवावलम्बते। सेन्द्रयोनिः।
यत्रासौ केशान्तो विवर्तते।व्यपोह्य शीर्ष कपाले।

अर्थात् मुख के अंदर तालु के मध्य में स्तन की भाँति जो मांसपिण्ड लटकता रहता है, उस के आगे केशों के मूलस्थान ब्रह्मरंध्र है। वहाँ से सिर के कपाल का भेदन करके 'इंद्रयोनि' यानी मुक्तिप्राप्ति का मार्ग सुषुम्ना नाडी आती है। यह नाडी अपने मूलस्थान से ऊर्ध्वमुखी होकर ऊपर बढते हुए ललाट के मध्य में विचरती है। इस के उत्कृष्ट रंध्र-भाग शिखास्थल के ठीक नीचे खुलती है। योगी इस रंध्र को सुषुम्ना नाडी का मूलस्थान मानते हैं। वैद्यगण इसे 'मस्तुलिंग'कहते है। मस्तुलिंग के साथवाले अग्रअभाग को योगी ब्रह्मरंध्र कहते हैं। यह रंध्र ज्ञानशक्ति का केंद्र है और मस्तुलिंग मर्म का केंद्र है। ये दोनों जितने स्वस्थ और सामर्थ्यवान होंगे, ज्ञानेंद्रियों, कर्मेंद्रियों में उतनी ही शक्ति बढेगी।

प्रकृति की विलक्षण महिमा देखिए, ये दोनों पास पास होते हुए भी अपनी प्रकृति में भिन्न हैं। ब्रह्मरंध्र (जिसे वैद्य मस्तिष्क कहते हैं) शांतिप्रिय है तो मस्तुलिंग उष्णप्रकृति का है। शिरो वेदना में तालु के बाल काटने से वेदना शांत हो जाती है, परंतु मस्तुलिंग के लिए उष्णता पाने के लिए उस के ऊपर गोखुर (गोपाद) के आकार का केशगुच्छ रखा जाता है, ता कि वह सूर्य से अवश्य ताप ग्रहण करते रहें। बालों के गुच्छ को शिखा के रूप में रखे जाने का यही रहस्य है, यही उस की विशेषता है।

यह विज्ञानानुकूल बात है कि, काली वस्तु सूर्य की किरणों से अधिक ताप तथा शक्ति को आकर्षित करते हुए उस से अधिक से अधिक ऊर्जा ग्रहण करती है। शरीर विज्ञान का अध्ययन करने से पता चलता है कि, महर्षियों ने मानव के मस्तिष्क के जिस स्थान पर शिखा रखने का विधान किया है उस के ठीक नीचे मज्जा-तंतुओं द्वारा निर्मित बुद्धिचक्र (मस्तुलिंग) और उस के समीप ब्रह्मरंध्र है। ये दोंनों सहस्रदल कमल में अमृतरूपी ब्रह्म के अधिष्ठान हैं। शास्त्रविधि से जब मानव अनुष्ठान तथा साधना में प्रवृत्त होता है, तो इस के प्रभाव से समुत्पन्न 'अमृतत्व' वायुवेग से सहस्रदल कर्णिका में प्रवेश करता है। यह अमृतत्व यही नहीं रुकता, अपने मूलकेंद्र सूर्य में विलीन होने के लिए सिर के मर्मस्थल का भेदन कर निकलने का प्रयास करता है।

यदि इसे ना रोका जाय तो विक्षिप्तता या मृत्यु होने का संभव है। इस मर्मस्थल पर शिखा खुले रहने से अल्पवेग से छन छन कर अमृतत्व बाहर निकलकर अंतरिक्ष में विलीन हो जाता है। यदि इस शिखापर गाँठ लगा दी जाय तो यह तत्व शिखा के ग्रंथि से टकराकर पुन: सहस्रदल कमल(चक्र) में ठहर जाता है। यही ठहराव मनुष्य के जीवन में दीर्घायु, बल और तेज की वृद्धि में सहायक होता है। इसी लिए पूजा, जप-तप, ध्यान आदि प्रारंभ करने से पहले आनी शिखा को उपर की ओर खींचकर कस के बांधने का नियम शास्त्रकारों ने बनाया है और शिखा के आकार गोखुर के समान होना भी अवश्यक बताया है।

प्रकृति का विधान है कि प्रत्येक क्षुद्रांश सर्वदा अपने मूल में विलीन होकर ही पूर्णता प्राप्त करता है। समुद्र जल को ही देखिए, सूर्यताप से भाप में परिवर्तित होकर वायु के साथ विचरण करते हुए ठण्डक पाकर वर्षा के रूप में पृथ्वि को आकर विभिन्न माध्यमों से पुन: समुद्र में विलीन हो जाता है। इसी प्रकार अण्ड-पिण्ड वाद के अनुसार हम सूर्य को अपनी जीवनशक्ति और प्राणशक्ति का केंद्र मानते हैं। इसी लिए बुद्धिकेंद्र मस्तिष्क के ब्रह्मरंध्रस्थल पर शिखा रखकर सूर्य के अंशभूत बुद्धि
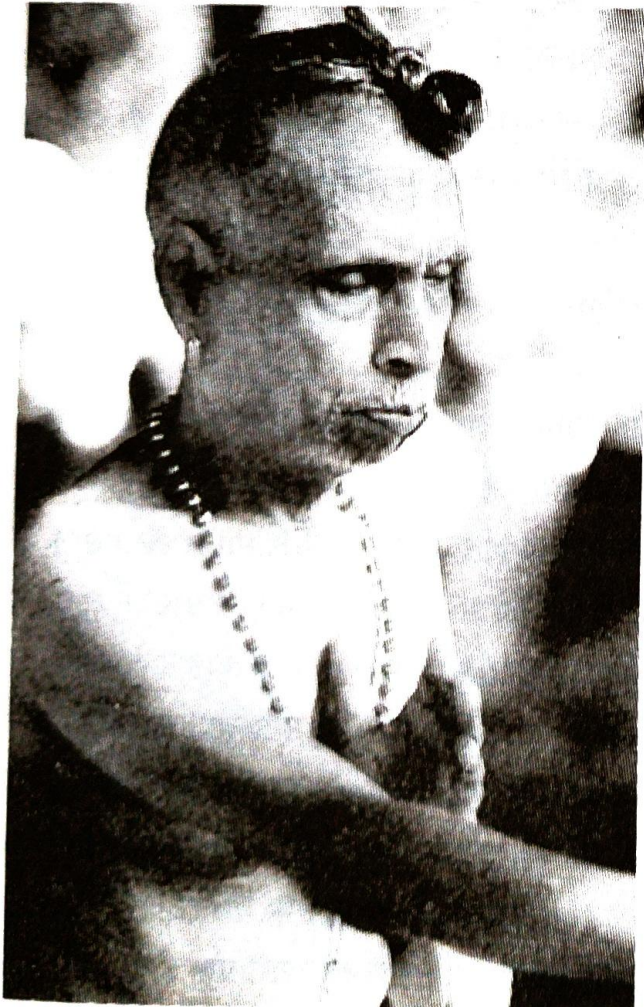
तथा प्राणशक्ति को जागृत करने के लिए सूर्य की मेधाप्रकाशिनी शक्ति को आकर्षित कराया जाता है। इसी से सूर्यरश्मि और परमात्मा की ओजशक्ति का आवागमन मार्ग बना रहता है। अत: इसे इंद्रयोनी या परमात्मा की प्राप्ति का मार्ग बताते हैं। इसी के नीचे स्थित ग्रंथि को श्लेष्मीय या पिट्यूटरी (Petiutory) ग्रंथि कहते हैं। इसी से एक रस स्नायुओं के माध्यम से संपूर्ण शरीर में फैलकर उसे स्वस्थ और बलशाली बनाता है। महर्षियों द्वारा खोजे गये अमृतत्व को, प्रभाव शाक्ति को स्वीकार करते हुए पाश्चात्य वैज्ञानिक कहते हैं कि, यह अदृश्य शक्ति ओजशक्ति है। यह

शक्ति विश्व के महानतम संतों, महर्षियों, अवतारों तथा देवदूतों में उन के निरंतर ध्यानावस्था में रहने की स्थिति के कारण उन के सिर के पीछे (उन के अंगों में बने रोमों से निकलकर) एक बडे प्रकाशचक्र के रूप में दिखाई पडती है। इसी आशय से चित्रकार देवी-देवताओं के एवं महापुरुषों के चित्र बनाते समय उन के सिर के पीछे सफेद, हलका पीला या लाल पीला मिश्रित प्रकाशचक्र दर्शाते हैं।*

सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विचारक तथा वेदभाष्यकार मैक्स मुल्लर (Maxmuller) का कहना है कि, ध्यान करते समय मानव शरीर के अंतर्गत छः चक्रों में यह ओजशक्ति होती है। ध्यान या उपासना की तीव्रता से सहस्रार चक्र जो शिखा के नीचे होता है, उस में ओजशक्ति एकत्रित होकर ब्रह्मरंध्र के द्वारा बाहर निकलती है।

मानव पिण्ड का पांचवाँ भाग मस्तक में एक गुप्तद्वार है, जिसे दशमद्वार भी कहते हैं। यह वैसा होता है, जैसा तालु के अंदर स्तन के भाँति मांस का लोलक। इस द्वार की रक्षा हेतु ही शिखा रखी जाती है और धर्मानुष्ठान के समय गाँठ लगाई जाती है।

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।
विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम्।।
स्नाने दाने जपे होमे सन्ध्यायां देवतार्चने।
शिखाग्रन्थि:सदा कुर्यादित्येतन्मनुरब्रवीत्।।

इत्यादि वचनों द्वारा शिखाबंधन का नियम किया गया है।

---

*यह प्रकाश चक्र मानव के दृष्टि को गोचर नहीं होता है। सन् १९९९ के अप्रैल माह में केरल राज्य के कुण्डूरु ग्राम में हुए अतिरात्रम् नामक सोमयाग में सनातन धर्म के प्रति उत्सुक Mrs. Rosemarry नामक पाश्चात्य महिला ने भाग लिया और उन्होने अपने Kirlian camera जो मानव के दृष्टि को गोचर न होनेवाले ओज-किरणों को भी चित्रित करता है, उस Camera से यागप्रक्रिया के विविध सन्निवेशों को चित्रित किया। उस camera के विशेष तंत्रज्ञान के कारण उन भावचित्रों (Photos) में यागकर्म में निरत कुछ ब्राह्मण, जो ब्रह्मचारी, मन्त्रानुष्ठातृ तथा योगशक्ति के संपन्न थें, उन के सिर के पीछे उपर्युक्त प्रकाशचक्र सा गोचर होता है। इन भावचित्रों के संग्रह को मेरे मित्र श्री. श्रीनिवास भट्ट, जो दावणगेरा में रहते है, उन के पास पाया जा सकता है। Kirlian camera के संबंध में अधिक जानकारी हेतु अन्तर्जाल (Internet) पर Google Search Engine के माध्यम से Search करने पर सचित्र एवं सविस्तार जानकारी प्राप्त होती है।

शिखाधारण के विषय में उपर्युक्त तथ्यों पर कुछ विद्वान आपत्ति जताते हैं। उन का कहना है कि, सृष्टि का मूल अग्नि है अर्थात् अग्नि या ज्योतिस्वरूपी परब्रह्म। अग्नि भी जटाधारी होने के कारण 'शिखी' के नाम से जाना जाता है। अग्नि से हम 'तत्वं मे पाहि, तया मामद्य मेधाविनं कुरु' इत्यादि प्रार्थना करते हैं तथा 'अग्निमिच्छध्वं भारताः' इत्यादि उद्घोषणा भी करते हैं। अग्नि को यानी ज्योतिस्वरूपी परमात्मा को प्राप्त करना अर्थात् मोक्षसुख को प्राप्त करना मानव का सर्वोच्च लक्ष्य होना चाहिए।

गीता (१७-३) में भगवान् ने कहा है कि, 'यो यच्छ्रद्धः सक एव सः' यानी व्यक्ति जो चाहता है, वैसा ही बन जाता है।

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।

जिस की भावना जैसी होती है, उसे वैसे ही सिद्धि प्राप्त होती है। कोई भी उपासना हो, उपासक उपास्य देवता की निकटता एवं कृपा चाहता है। अत: साधक उपास्य स्वरूप की प्राप्ति के लिए उस स्वरूप का 'चिन्ह' धारण करता है, जैसे शैव भस्म, रुद्राक्ष इत्यादि तथा वैष्णव तुलसीमाला, गोपी चन्दन आदिको धारण करते हैं। इसी प्रकार 'अहं ब्रह्मास्मि' यानी 'मैं सर्वशक्त परब्रह्म ही हूँ' (मी सांब) - इस महावाक्य को नहीं भूलते हुए श्रुति-स्मृतियों द्वारा प्रतिपादित मार्ग पर चलकर उस 'अग्नि' यानी ज्योतिस्वरूपी परमानंद को प्राप्त करने के लिए अग्नि के प्रतीक चिन्ह शिखा को सिर पर धारण किया जाता है। यह शिखा हमें यह याद दिलाती रहती है कि, पापकर्मों से दूर रहें और परमानंद की प्राप्ति की कामना जागृत करते रहें।

जैसे तडित् चालक विद्युत् को अपनी ओर अकर्षित करता है, उसी प्रकार शिखा भी अंतरिक्ष में प्रवहित परमात्मा की ओजशक्ति को अकर्षित करने में सफल होती है। इस तथ्य को जान लेने से शिखा रखने के रहस्य से परदा हट जाता है। इसे देशी तथा विदेशी विद्वानों ने भी स्वीकार किया है। ऋषि-मुनियों की अपनी अष्टांग योग से तथा मंत्रानुष्ठान से अमृतत्व का (अदृशयरूप से) निरंतर स्राव होता रहता था, जो एक छोटे से शिखामार्ग के लिए संभालना कष्टतर होता था। अत: उन ऋषियों ने जटा जैसे लम्बे बाल रख लिए थे। ये केश इतने गुथेहुए रहते थे कि, अमृतरस का उन के अंतिम छोर तक पहुँचना असाध्य हो जाता था और उन केशों के अग्र को शिखाग्रन्थि के भीतर की ओर मोडकर बंधे रहने के कारण वह अमृतरस सहस्रदल चक्र में ही लौट जाता था। इस तरह से ये जटाएँ अनेक शिखाओं का प्रतिनिधित्व

करती थीं। दुर्भाग्य से इस मर्म को न समझते हुए आधुनिक धर्मावलम्बी इसे महान् या पहुँचे हुए साधु के लक्षण बताकर बिना कोई उपासना के ही केवल दांभिकता से जटा-धारण कियेहुए दिखाई देते हैं।
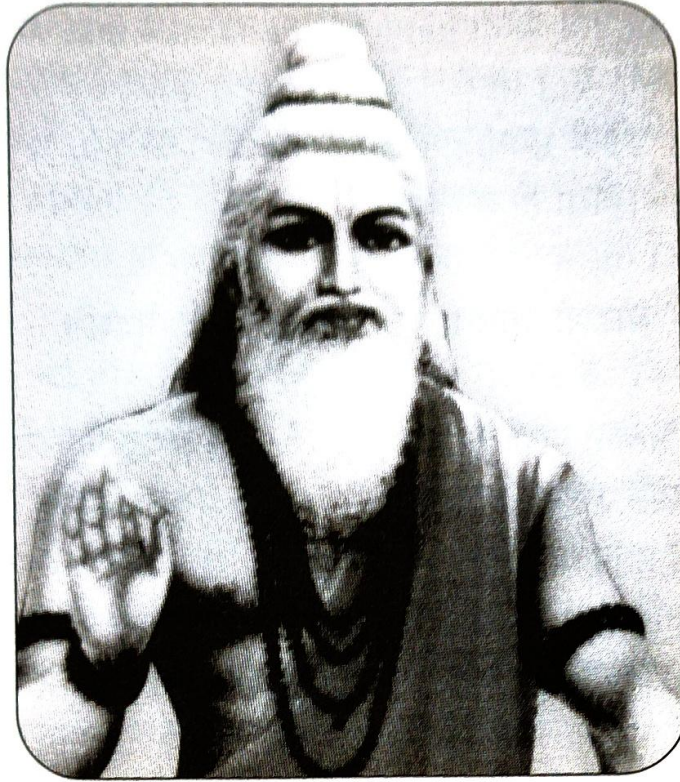
॥ सूर्य - एक वैद्य॥

(सहारा समय साप्ताहिक- दि.२१-०१-२००६)

धार्मिक परंपरा है कि, नित्य प्रात:काल स्नान करके सूर्य को जल से अर्घ्य दिया जाये। इन दिनों यह परंपरा धीरे-धीरे कम होती जा रही है। यह अर्घ्य यदि उचित रीति से दिया जाए तो निश्चित ही यह हमारे स्वास्थ्य, विशेषकर नेत्र ज्योति के लिए अत्यन्त लाभकारी है। अर्घ्य देने का नियम यह है कि, उगते हुए सूर्य की तरफ मुंह करके जल के पात्र को अपने सिर से भी ऊंचा करके अर्घ्य दें और गिरतीहुई जलधारा में से उस रक्तांभ सूर्य को देखें। इस प्रकार जल को भेदकर जो सूर्य की किरणें शरीर पर गिरेंगी, वे स्वास्थ्य के लिए अत्यंत लाभकर होती हैं। सूर्यस्नान का अर्थ है निर्वस्त्र होकर धूप में उतनी देर तक लेटे रहना, जितनी देर हम सरलता से धूप को सहन कर सकें या जितना समय हमारे पास उपलब्ध हो। सूर्य स्नान के समय सिर पर गीला वस्त्र रखना भी लाभदायक है। प्रचीन ग्रंथों में दी हुई व्यवस्था के अनुसार सूर्यस्नान से पूर्व एक ग्लास शीतल जल पी लेना चाहिए।

'शरीरं व्याधिमन्दिरम्' के अनुसार मानव शरीर रोगों का घर है। इन रोंगों को दूर करने के लिए चिकित्सकों की शरण में जाते हैं और उपचार में लम्बा समय और धन व्यय करते हैं। इस दृष्टि से सूर्य वैद्य शिरोमणि हैं। हमारे अधिकांश रोग सूर्य की उपासना से नष्ट हो जाते हैं। उस में किसी प्रकार का कोई व्यय भी नहीं होता है। नित्यप्रति संपूर्ण चराचर को विशाल मात्रा में विटमिन डी नि:शुल्क वितरित करता है। ऋग्वेद में सूर्य की वन्दना करते हुए कहा गया है कि, हे सूर्य देव, आप जिस ज्योति से अंधेरे को दूर करते हैं, उसी ज्योति से हमारे पापों को दूर करें। रोगों और क्लेषों को को नष्ट करें और दरिद्रता मिटाएं (ऋग्वेद-१०-३७-०४) सूर्य की किरणों से हानिकारक कीटाणु स्वत: नष्ट हो जाते हैं। अमेरिका के सुप्रसिद्ध चिकित्साशास्त्री जॉन डोन का दावा है कि, सूर्य रश्मियों से यक्ष्मा जैसे भयंकर रोग के क्रिमि भी नष्ट हो जाते हैं। डेनमार्क के नाइसाफिसेन ने १९९४ यक्ष्मा के रोगी को केवल सूर्य रश्मियों से स्वस्थ कर दिया था।

स्वास्थ्य की रक्षा में अर्ध्य और सूर्यस्नान के अतिरिक्त वर्ण चकित्सा का भी महत्व है। शारी र के अङ्गों में विभिन्न रंग होते हैं, जैसे चर्म का गेंहुआ, केशों का

काला और आंखों का सफेद भूरा और काला। दूसरी तरफ सूर्य की किरणों में सात रंग होते हैं। सूर्य से हम प्रकाश, ऊर्जा और किरणों से होने वाले लाभ के अतिरिक्त सात रंग भी ग्रहण करते हैं, जो हमारे विभिन्न अवयवों को पुष्ट करने के लिए आवश्यक हैं। शरीर में किसी विशेष प्रकार के रोग की उत्पत्ति होने पर हमें तत्संम्बन्धी रंग की आवश्यकता विशेष रूप से महसूस होती है। अथर्ववेद (१-२२) के अनुसार, जब शरीर में फीकापन, पांडुरोग या हृदय रोग हो तो रोगी को प्रात:कालीन सूर्यकी लाल रश्मियों में बैठना चाहिए और लाल रंग की गाय का दूध पीना चाहिए। विशेषज्ञों के अनुसार, लकवा या कैंसर जैसे असाध्य रोगों में भी विधिवत् सूर्यस्नान करन से आश्चर्यजनक लाभ प्राप्त होता है। आवश्यकतानुसार सूर्यस्नान अंगविशेष तक भी सीमित रखा जा सकता है। रोगग्रस्त अंग को ही सूर्यरश्मियों में खुला रखा जाता है, शेष अंग ढंके रहते हैं।

स्वास्थ्य की दृष्टि से सूर्य के महत्वपर वैज्ञानिकों का ध्यान गया तो इस संदर्भ में नई-नई खोजे की गई। अन्तर राष्ट्रीय स्तर पर इस कार्य के लिए कई सैनेटोरियम् स्थापित किए गए। इस क्षेत्र में प्रारंभिक प्रयत्न करने वालों में डॉ. एल्फ्रड के नाम. विशेष रूप से उल्लेखनीय है। डॉ. रोलियर ने तो सूर्य चिकित्सा के लिए १९०३ में अल्प्स पर्वत में लेसीन नामक जगह पर बाकायदा अपना चिकित्सालय ही प्रारंभ करलिया था। वैज्ञानिकों का ध्यान इस तथ्य की तरफ भी आ गया कि, सूर्य रश्मियों में प्राप्त सात रंग भी मानव शरीर में रासायनिक प्रक्रिया में अत्यन्त उपयोगी हैं। इसी से चिकित्सा विज्ञान में एक नई पद्धति पर कार्य करनेवाले वैज्ञानिकों ने बताया कि, बोतल में सूर्यरश्मियों से तैयार किया हुआ जल रोगी को पिलाने से उसे आराम मिलता है।

॥ वर्णाश्रमव्यवस्था की वैज्ञानिकता ॥

'दैनिक भास्कर' (दिनांक १५.१.१९९७) - के जयपुर-संस्करण में यह समाचार प्रकाशित हुआ है-' पाश्चात्य संस्कृति और अधुनिकता के माहौल में पारंपरिक रीति-रिवाजों से विवाह करना भले ही दकियानूसी माना जाता हो; किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से स्वास्थ्य के लिये यही उचित है। वैज्ञानिकों ने अंतर्जातीय विवाह-प्रथा को मानव-स्वास्थ्य के लिये हनिकारक बताया है। वैज्ञानिकों का कहना है कि, समुदय से बाहर शादी करनेवालों की सन्तानों के शरीरपर बाल तथा अंगुलियों में

नाखून नहीं आने की शिकायत हो सकती हैऔर मस्तिष्क-कैंसर की संभावना बढ जाती है। इंडियन साइंस कांग्रस के चौरासीवें वार्षिक सम्मेलन में वैज्ञानिकों ने उक्त रहस्योद्घाटन किया। वैज्ञानिकों एवं मन:शास्त्रियों ने कहा कि, भारत की पारंपरिक वैवाहिक व्यवस्था से छेडछाड करने से जनस्वास्थ्य पर प्रतकूल प्रभाव पडेंगे। विशेषज्ञों ने सदियों पुरानी वैवाहि व्यवस्थाओं को विकृत करने के जैविक दुष्परिणामों के लिये आगाह किया। कलकत्ता विश्वविद्यालय में मानव-विज्ञान-विभाग में मानव-जीन विषय के प्रोफेसर डॉ० देवप्रसाद मुखर्जी ने अन्तर्जातीय विवाह-प्रथा स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभावों की चर्चा करते हुए कहा कि, हमें अपने समुदाय के भीतर ही विवाह करने को प्रोत्साहित करना चाहिये, अन्यथा मानव-जीन की भयंकर क्षति के दुष्परिणाम भुगतने होंगे। उन्हों ने कहा कि, जीन-विकृति से शरीर में सिकल सेल, एनीमिया एवं जी-सिक्स पी०डी० की की हो जाती है।वैसे सिकल सेल जींस दक्षिण भारतीय कबीलों में ही पाये जाते थे; किन्तु अब इन का प्रसार चुनिंदा उत्तरी एवं मध्य भारत के राज्यों तक हो गया है। डॉ० मुखर्जी ने कहा कि, वैज्ञानिक निष्कर्षों को रूढिवादी कहकर उन की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये.......

डॉ० मुखर्जी ने बताया कि, वैज्ञानकों ने अन्तर्जातीय विवाह करनेवाले कुछ लोगों के अध्ययन के अधार पर 'प्राइवेट जींस' की पहचान की है। उन्होने बताया कि, भारत में इस जींस से पीडित व्यक्तियों में शरीर पर बाल तथा अंगुलियों में नाखून नहीं पाये जाते हैं। पश्चिम बंगाल के चौबीस परगना क्षेत्र में वैज्ञानिकों ने अन्तर्जातीय विवाह करनेवाले कबीलों में मस्तिष्क-कैंसर की शिकायत पायी। वैज्ञानिकों का कहना है कि, अध्ययन से पता चलता है कि, एक समुदाय में अहानिकारक रहनेवाले जींस के दूसरे समुदाय में अत्यन्त हानिकारक प्रभाव हो सकते हैं.......

अंग्रजी समाचार-पत्र THE TIMES OF INDIA (7.1.1999) में यह समाचार प्रकाशित हुआ है। - CHENNAI: Nobel laureate James Watson considerd to be a the father of DNA technique has provided a shot in the arm for traditionalists. According to him, gene pools get better in arranged marriages.

Easily the most sought after participent at the 86th Indian scince congress currently on here, Dr. Watson told The Times of india that he supported indian research on cast based DNA. "Genetics is not the

root-cause of rasism. Racism exited long before cateism" he said.

He was responding to recent reseaches in Hyderabad and West Bengal which highlighted patterns of diseases and similar DNA patterns in various cast groups in India. These reserches have, however, been opposed by certain quarters who say that they reinforce in 'varna' system with genetic evidenc. "I am exited about the history of India and the study of people with biotechnology", said Dr. watson. He said while comparing genes and DNA to cast groups, "we must recognise that human beings are different. It is interesting to study how similar groups adapt to diseases, how isolated groups have greater probability of similar diseases and what is so unique about such groups."

He said, " There has been so much discrimination against the so called untouchables, but genetics shows that they have differing genes. Let us not have opposition to human diversity in any form."

Dr watson said that only time will tell, by studying the uniqueness of each cast group, how each "takled its particular problems".

॥ परिशिष्ट ॥

॥ परिशिष्ट ॥

जटामालाशिखारेखा ध्वजोदण्डोरथोघनः ।
अष्टौविकृतयःप्रोक्ता वेदविद्भिर्महर्षिभिः ॥

जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वज, दण्ड, रथ और घन - इन आठ विकृतिपाठों के विधानों को मन्त्रों की शुद्धता की रक्षा के लिये महर्षियों ने बनाया है ।

संहितापाठतः पुण्यं द्विगुणं पदपाठतः ।
त्रिगुणं क्रमपाठेन जटापाठेन षड्गुणम् ॥

माना जाता है कि, संहितापाठ का अध्ययन करने से जो फल प्राप्त होता है, पदपाठ से उस का दुगुना फल मिलता है । क्रमपाठ से तीन गुना और जटापाठ से छः गुना फल मिलता है ।

॥ वेदाभ्यास का क्रम ॥ (उदाहरण)

॥ संहितापाठ :॥

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्यधीमहि । धियोयोनःप्रचोदयात् ॥

॥ पदपाठ :॥

तत् । सवितुः । वरेण्यम् । भर्गः । देवस्य । धीमहि । धियः । यः । नः।प्रऽचोदयात् ॥

॥ क्रमपाठ :॥

तत्सवितुः । सवितुर्वरेण्यम् । वरेण्यंभर्गः।
भर्गो देवस्य । देवस्य धीमहि । धीमहीति धीमहि ।
धियोयः । योनः । नःप्रचोदयात् । प्रचोदयादिति प्रऽचोदयात् ।

॥ जटापाठ :॥

तत्सवितुःसवितुस्तत्तत्सवितुः । सवितुर्वरेण्यं वरेण्यं सवितुः सवितुर्वरेण्यम् ॥

वरेण्यं भर्गोभर्गो वरेण्यंवरेण्यंभर्गः । भर्गो देवस्यंदेवस्यभर्गोभर्गो देवस्यं ।
देवस्यंधीमहिधीमहि देवस्यं देवस्यं धीमहि । धीमहीति धीमहि ।
धियो यो यो धियो धियो यः । यो नो नो यो यो नः ।
नःप्रचोदयात् प्रचोदयान्नोनः प्रचोदयात् । प्रचोदयादिति प्रऽचोदयात् ॥

॥ घनपाठ :॥

तत्सवितुःसवितुस्तत्तत्सवितुर्वरेण्यं वरेण्यं सवितुस्ततत् सवितुर्वरेण्यम् ।
सवितुर्वरेण्यं वरेण्यं सवितुः सवितुर्वरेण्यं भर्गो भर्गो वरेण्यं सवितुः सवितुर्वरेण्यं भर्गः।
वरेण्यं भर्गोभर्गो वरेण्यं वरेण्यं भर्गो देवस्य देवस्य भर्गो वरेण्यं वरेण्यं भर्गो देवस्य।
भर्गो देवस्यंदेवस्यभर्गोभर्गो देवस्यंधीमहि धीमहि देवस्यं भर्गो भर्गो देवस्यंधीमहि ।
देवस्यंधीमहिधीमहि देवस्यं देवस्यं धीमहि । धीमहीति धीमहि ।
धियो यो यो धियो धियो यो नो नो यो धियो धियो यो नः ॥
यो नो नो यो यो नः प्रचोदयात् प्रचोदयान्नो यो यो नः प्रचोदयात् ।
नःप्रचोदयात् प्रचोदयान्नोनः प्रचोदयात् । प्रचोदयादिति प्रऽचोदयात् ॥

(छन्दो-नियम के अनुसार गायत्री छंद के मन्त्र को माला, शिखा इत्यादि विकृति-पाठ संभव नहीं है। अतएव केवल जटा, एवं घनपाठ को प्रकाशित किया गया है।)

॥ अथ ऋग्वेदीय प्रातःसन्ध्याविधिः ॥

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थांगतोऽपि वा ।
यःस्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरःशुचिः ॥

आचमनम्

ॐ केशवाय स्वाहा । ॐ नारायणाय स्वाहा । ॐ माधवाय स्वाहा । ॐ गोविन्दाय नमः। ॐ विष्णवे नमः। ॐ मधुसूदनाय नमः। ॐ त्रिविक्रमाय नमः। ॐ वामनाय नमः। ॐ श्रीधराय नमः। ॐ हृषीकेशाय नमः। ॐ पद्मनाभाय नमः। ॐ दामोदराय नमः। ॐ संकर्षणाय नमः। ॐ वासुदेवाय नमः। ॐ प्रद्युम्नाय नमः। ॐ अनिरुद्धाय नमः। ॐ पुरुषोत्तमाय नमः। ॐ अधोक्षजाय नमः। ॐ नारसिंहाय नमः। ॐ अच्युताय नमः। ॐ जनार्दनाय नमः। ॐ उपेन्द्राय नमः। ॐ हरये नमः। ॐ श्रीकृष्णाय नमः॥

भस्मधारणविधिः

मानस्तोक इति कुत्सो रुद्रो जगती, भस्माभिमन्त्रणे विनियोगः।

ॐ मानस्तोके तनये मान आयौ मानो गोषु मानो अश्वेषु रीरिषः।
वीरान्मनो रुद्रभामितो वधीर्हविष्मन्तःसदमित्वा हवामहे ॥ इत्यभिमन्त्र्य ।

त्र्यायुषं जमदग्नेः, इति ललाटे ।
कश्यपस्य त्र्यायुषं, इति कण्ठे ।
अगस्त्यस्य त्र्यायुषं, इति नाभौ ।
यद्देवानां त्र्यायुषं, इति दक्षिणस्कन्धे ।
तन्मे अस्तुत्र्यायुषं, इतिवामस्कन्धे ह
सर्वमस्तु शतायुषं, इति शिरसि ।
बलायुषं, इति सर्वांगे ।

केशवादि चतुर्विंशति नामभिः पुनराचम्य ।

प्राणायामः

प्रणवस्य परब्रह्मऋषि:। परमात्मा देवता । दैवीगायत्रीच्छन्द:। सप्तानां व्याहृतीनां, विश्वामित्र जमदग्नि भरद्वाज गौतमाऽत्रि वसिष्ठ कश्यपा ऋषय:। अग्निवाय्वादित्यबृहस्पतिवरुणेन्द्र विश्वेदेवादेवता: । गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहती पंक्ति रित्रष्टुब् जगत्यछंदांसि । गायत्र्या:, विश्वामित्र ऋषि:। सविता देवता । गायत्रीच्छंद:। गायत्रीशिरस:, प्रजापतिर्ऋषि:। ब्रह्माग्निवाय्वादित्या देवता: । यजुश्छंद:। प्राणायामे विनियोग:।।

ॐ भूः ॐ भुवः ॐ स्वः ॐ महः ॐ जनः ॐ तपः ॐ सत्यं
ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियोयोनःप्रचोदयात् ।।
ॐ आपोज्योतीरसोमृतं ब्रह्म भूर्भुवःस्वरोम् ।।

देशकालोच्चारः

शुभाभ्यां शुभे शोभने मुहूर्ते, अद्य ब्रह्मण: द्वितीये परार्धे, श्रीश्वेतवाराहकल्पे, वैवस्वत मन्वन्तरे, कलियुगे कलिप्रथमचरणे, भरतवर्षे भरतखण्डे, जम्बूद्वीपे दण्डकारण्ये देशे, गोदावर्या: दक्षिणेतीरे, शालिवाहन शके, बौद्धावतारे, रामक्षेत्रे, अस्मिन् वर्तमाने, व्यावहारिके, चान्द्रमानेन .... नाम संवत्सरे .....अयने .....ऋतौ .....मासे ....पक्षे ....तिथौ ....वासरे, शुभदिवस नक्षत्रे, शुभयोगे, शुभकरणे, एवंगुणविशेषेण विशिष्टायां शुभतिथौ...

संकल्पः

ममोपात्त समस्त दुरितक्षयद्वारा, श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं, प्रात:संध्यामुपासिष्ये ।। तदादौ आसनशुद्धिं भूतोत्सादनं च करिष्ये ।

आसनविधिः

पृथ्वीति मन्त्रस्य, मेरुपृष्ठ ऋषि:। कूर्मो देवता । सुतलं छन्द:। आसनशुध्यर्थे जपे विनियोग:।।

ॐ पृथ्वित्वयाधृतालोका देवित्वंविष्णुनाधृता ।
त्वंचधारयमांदेवि पवित्रंकुरुचासनं ।।

अपसर्पन्त्वपक्रामन्त्विितिद्वयो:वामदेवो भूतान्यनुष्टुप्, भूतोत्सादने विनियोग:।

ॐ अपसर्पन्तुतेभूता येभूताभूमिसंस्थिताः।
येभूताविघ्नकर्तारस्ते नश्यन्तुशिवाज्ञया ॥
अपक्रामन्तुभूतानि पिशाचाःसर्वतोदिशम् ।
सर्वेषामविरोधेन ब्रह्मकर्म समारभे ॥

मार्जनम्

आपोहिष्ठेतितृचस्य । आम्बरीष:सिन्धुद्वीपऋषि:। आपोदेवता । गायत्रीछन्द:। मार्जने विनियोग:॥

ॐ आपोहिष्ठा मयोभुवः। ॐ तानऊर्जे दधातन ।
ॐ महेरणाँय चक्षसे ॥ ॐ योवःशिवतमो रसः।
ॐ तस्यभाजयते हनः। ॐ उशतीरिव मातरः॥
ॐ तस्मा अरँ गमामवः। ॐ यस्यक्षयाँय जिन्वथ ।
ॐ आपोँ जनयथा चनः॥

मन्त्राचमनम्

सूर्यश्चेतिमन्त्रस्य । याज्ञवल्क्य उपनिषदऋषि: । सूर्यमामन्यु मन्युपति रात्रयोदेवता:। प्रकृतिश्छन्द:। मन्त्राचमने विनियोग:॥

ॐ सूर्यश्च मामन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः। पापेभ्यो रक्षन्ताम् ।
यद्रात्र्या पापमकार्षम् । मनसा वाचा हस्ताभ्याम् ।
पद्भ्यामुदरेण शिश्ना । रात्रिस्तदवलुंपतु । यत्किंचदुरितंमयि ।
इदमहं माममृतयोनौ । सूर्येज्योतिषि जुहोमिस्वाहा ॥

इति जलं पीत्वा - आचम्य ॥

द्वितीयमार्जनम्

प्रणवस्य परब्रह्मात्रृषि:। परमात्मा देवता । दैवीगायत्रीच्छन्द: । सप्तानां व्याहृतीनां परमेष्ठी प्रजापति: प्रजापतिर्बृहती, गायत्र्याविश्वामित्र: सविता गायत्री। आपोहिष्ठेति नवर्चस्य सूक्तस्य आंबरीष: सिन्धुद्वीप आपोगायत्री। पञ्चमी वर्धमाना सप्तमी प्रतिष्ठा, अन्त्ये द्वे अनुष्टुभौ। गायत्रीशिरस: प्रजापतिर्ऋषि:। ब्रह्माग्निवाय्वादित्या देवता:। यजुश्छंद:। मार्जने विनियोग:।।

ॐ भू:। ॐ भुव:। ॐ स्व:। ॐ मह:। ॐ जन:। ॐ तप:। ॐ सत्यं ।
ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्यधमहि । धियोयोन:प्रचोदयात् ।।

ॐ आपोहिष्ठा मयोभुवस्तानं ऊर्जे दधातन । महेरणाय चक्षसे ।।
योव:शिवतमो रसस्तस्य भाजयते हन:। उशतीरिवमातर:।।
तस्माअरं गमामवो यस्यक्षयाय जिन्वथ । आपो जनयथा चन:।।
शं नो देवीरभिष्टय आपो भवंतु पीतये । शंयोरभिस्त्रवंतुन:।।
ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम् । अपो याचामि भेषजम् ।।
अप्सुमे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा । अग्निंच विश्वशंभुवम् ।।
आप:पृणीत भेषजं वरूथं तन्वेऽमम । ज्योक्च सूर्यं दृशे ।।
इदमाप: प्रवहत यत्किंच दुरितं मयि ।
यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वा शेप उतानृतम् ।।
आपो अद्यान्वचारिषं रसेन समगस्महि ।
पयस्वानग्न आगहि तं मा संसृज वर्चसा ।।
ॐ आपोज्योती रसोमृतंब्रह्म भूर्भुव:स्वरोम्।।

अघमर्षणम्

ऋतंचेति तृचस्य माधुच्छन्दसोऽघमर्षण ऋषि:। भाववृत्तं देवता। अनुष्टुप् छन्द:। अघमर्षणे विनियोग:।।

ॐ ऋतंच सत्यंचाभीद्धात्तपसोध्यजायत । ततो रात्र्यजायत तत: समुद्रो अर्णव:।।
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत । अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी ।।
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् । दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्व:।।

इति वामनासापुटेन वायुं निरुध्य दक्षिण नासया पापपुरुषं निरस्य तज्जलं अनवलोकयन् वामभागे क्षिपेत् ॥

आचम्य ॥ प्राणनायम्य - ममोपात्त समस्त दुरितक्षयद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं प्रात:संध्यांग अर्घ्यप्रदानं करिष्ये ।

अर्घ्यप्रदानम्

प्रणवस्य परब्रह्मऋषि:। परमात्मा देवता । दैवीगायत्रीच्छन्द:। समस्त व्याहृतीनां प्रजापतिर्ऋषि:। प्रजापतिर्देवता। बृहती छंद:। गायत्र्या विश्वामित्र ऋषि:। सूर्यो देवता । गायत्री छंद:। अर्घ्यप्रदाने विनियोग:।

ॐ भूर्भुवः स्वः।
तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्यधीमहि ।
धियोयोनःप्रचोदयात् ॥

ब्रह्मावास्तये प्रात: संध्यांगभूतं श्री सूर्याय इदमर्घ्यं समर्पयामि ॥ (इति त्रि:)

(कालातिक्रमे प्रायश्चित्तार्थं चतुर्थं अर्घ्यं दद्यात्)

ॐ असावादित्यो ब्रह्म ॥ (इति प्रादक्षिण्येन आत्मानं परिशिंचेत्)

तर्पणम्

ॐ सन्ध्यां तर्पयामि । ॐ गायत्रीं तर्पयामि । ॐ ब्राह्मीं तर्पयामि । ॐ निमृजीं तर्पयामि ।

आवाहनम्

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म । अग्निर्देवता ब्रह्म इत्यार्षम् ।
गायत्रं छन्दं परमात्मं सरूपम् । सायुज्यं विनियोगम् ।
आयातु वरदा देवि अक्षरं ब्रह्मसम्मितम् ।

गायत्रीं छन्दसां मातेदं ब्रह्म जुषस्व मे ।
यदन्हात् कुरुते पापं तदन्हात् प्रतिमुच्यते ।
यद्रात्रियात् कुरुते पापं तद्रात्रियात् प्रतिमुच्यते ।
सर्ववर्णे महादेवि संध्याविद्ये सरस्वति।
ओजोऽसि सहोऽसि बलमसि भ्राजोऽसि देवानां धामनामाऽसि विश्वमसि विश्वायुः सर्वमसि सर्वायुरभिभूरों गायत्रीमावाहयामि सावित्रीमावाहयामि सरस्वतीमावाहयामि छन्दर्षीनावाहयामि श्रियमावाहयामि गायत्र्या गायत्रीछन्दो विश्वामित्रऋषिः सवितादेवताऽग्निर्मुखं ब्रह्माशिरो विष्णुर्हृदयं रुद्रःशिखा पृथिवीयोनिः प्राणाऽपानव्यानोऽदानःसमाना सप्राणा श्वेतवर्णा सांख्यायन सगोत्रा गायत्री चतुर्विंशत्यक्षरा त्रिपदाषट्कुक्षिः पंचशीर्षोपनयने विनियोगः ॥

आचम्य- प्राणानायम्य ।

ममोपात्त समस्त दुरितक्षयद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं, प्रातःसंध्याङ्ग गायत्री जपं करिष्ये। तदङ्ग न्यासं करिष्ये ॥ तत्सवितुः विश्वामित्र सविता गायत्री जपे तदङ्ग न्यासे च विनियोगः ।

ॐ तत्सवितुः - अंगुष्ठाभ्यां नमः ॥
ॐ वरेण्यं - तर्जनीभ्यां नमः ॥
ॐ भर्गो देवस्य - मध्यमाभ्यां नमः ॥
ॐ धीमहि - अनामिकाभ्यां नमः ॥
ॐ धियोयोनः - कनिष्ठिकाभ्यां नमः ॥
ॐ प्रचोदयात् - करतल-करपृष्ठाभ्यां नमः॥
ॐ तत्सवितुः - हृदयाय नमः ॥
ॐ वरेण्यं - शिरसे स्वाहा ॥
ॐ भर्गो देवस्य - शिखायै वषट् ॥
ॐ धीमहि - कवचाय हुं ॥
ॐ धियोयोनः - नेत्रत्रयाय वौषट् ॥
ॐ प्रचोदयात् - अस्त्राय फट् ॥
ॐ भूर्भुवःस्वरोम् - इति दिग्बंधः ॥

ध्यानम्

मुक्ता विद्रुम हेम नील धवलच्छायैर्मुखैस्त्रीक्षणैः ।
युक्तामिन्दुकला निबद्ध मुकुटां तत्त्वार्थवर्णात्मिकाम् ॥
गायत्रीं वरदाऽऽभयांकुशकशाः शुभ्रंकपालं गदाम् ।
शंखं चक्रमथारविन्दयुगलं हस्तैर्वहन्तीं भजे ॥

बालां बालादित्यमण्डलमध्यस्थां रक्तवर्णां रक्ताम्बरानुलेपनस्रगाभरणां चतुर्वक्त्रां दण्डकमण्डलु अक्षसूत्राभयांक चतुर्भुजां हंसासनारूढां ब्रह्मदैवत्यां ऋग्वेदमुदाहरन्तीं भूर्लोकाधिष्ठात्रीं गायत्रींनाम देवतां ध्यायामि ॥

लं - पृथिव्यात्मिकायै नमः - गन्धं कल्पयामि ।
हं - आकाशात्मिकायै नमः - पुष्पं कल्पयामि ।
यं - वाय्वात्मिकायै नमः - धूपं कल्पयामि ।
रं - अग्न्यात्मिकायै नमः - दीपं कल्पयामि ।
वं, अं - अमृतात्मिकायै नमः - नैवेद्यं कल्पयामि ।
पं - परमात्मिकायै नमः - पंचोपचार पूजां समर्पयामि ।

आगच्छ वरदे देवि जपे मे सन्निधौ भव ।
गायन्तं त्रायसे यस्मात् गायत्री त्वं ततःस्मृता ॥
यो देवः सवितास्माकं धियो धर्माधिगोचरे ।
प्रेरयेत्तस्य तद्भर्गस्तद्वरेण्य मुपास्महे ॥

अस्यश्री शापविमोचन मन्त्रस्य, विश्वामित्रऋषिः । सूर्यो देवता । गायत्री छन्दः । गायत्र्याः शापविमोचनार्थे जपे विनियोगः ॥

ॐ ब्रह्मणे नमः । ॐ विश्वामित्राय नमः । ॐ वसिष्ठाय नमः ।
ॐ अहो देवि महादेवि सन्ध्याविद्ये सरस्वति ।
अजरे अमरे चैव ब्रह्मयोनि नमोस्तु ते।

ततः अष्टोत्तरशतं सहस्रं वा गायत्री जस्वा उत्तरन्यासं, ध्यानं, पंचोपचार पूजां च कुर्यात् ।

उपस्थानम्

मित्रस्येति चतसृणां मन्त्राणां, विश्वामित्र ऋषि: । मित्रोदेवता । गायत्री छन्द: । मित्रोपस्थाने विनियोग: ।

ॐ मित्रस्य चर्षणीधृतोऽवो देवस्य सानसि । द्युम्नं चित्रश्रवस्तमम् ॥
अभियो महिना दिवं मित्रो बभूव सप्रथाः । अभिश्रवोभिः पृथिवीम् ॥
मित्राय पंच येमिरे जना अभिष्टिशवसे । स देवान् विश्वान् बिभर्ति ॥
मित्रो देवेष्वायुषु जनाय वृक्तबर्हिषे । इष इष्टव्रता अकः ॥

त्र्यम्बकमिति मैत्रावरुणौ वसिष्ठो रुद्रोऽनुष्टुप् । उपस्थाने विनियोग: ॥

ॐ त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनान् मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥

जातवेदस इति मारीच: कश्यपो जातवेदाग्निस्त्रिष्टुप् । उपस्थाने विनियोग: ॥

ॐ जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो निदहाति वेदः ।
सनः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः ॥

तच्छंयो: शंयुर्विश्वेदेवा: शक्करी, शान्त्यर्थे जपे विनियोग: ।

ॐ तच्छंयोरावृणीमहे गातुं यज्ञाय गातुं यज्ञपतये ।
दैवी स्वस्तिरस्तु नः स्वस्तिर्मानुषेभ्यः ।
ऊर्ध्वं जिगातु भेषजम् शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

नमोब्रह्मण इति प्रजापतिर्विश्वेदेवास्त्रिष्टुप् । नमस्कारे विनियोग: ।

ॐ नमो ब्रह्मणे नमो अस्त्वग्नये नमः पृथिव्यै नम ओषधीभ्यः ।
नमो वाचे नमो वाचस्पतये नमो विष्णवे महते करोमि ॥

प्राच्यैदिशे - इन्द्राय नमः । आग्नेयैदिशे - अग्नयेनमः । दक्षिणायै दिशे - यमाय नमः। नैर्ऋत्यै दिशे - निर्ऋतये नमः । प्रतीच्यै दिशे - वरुणाय नमः । वायव्यै दिशे - वायवे नमः । उदीच्यैदिशे - कुबेराय नमः । ईशान्यै दिशे - ईश्वराय नमः। ऊर्ध्वायै दिशे - ब्रह्मणे नमः । अधरायैदिशे - अनन्ताय नमः । सन्ध्यायै नमः । सावित्र्यै नमः । गायत्र्यै नमः । सरस्वत्यै नमः । सर्वाभ्यो देवताभ्यो नमः । ऋषिभ्यो नमः । मुनिभ्यो नमः । गुरुभ्यो नमः । मातृभ्यो नमः । पितृभ्यो नमः । कामोकार्षीन् नमो नमः । मन्युरकाषीन् नमो नमः ।

यां सदा सर्वभूतानि चराणि स्थावराणि च ।
सायं प्रातर्नमस्यन्ति सा मा सन्ध्याऽभिरक्षतु ॥
शिवाय विष्णुरूपाय शिवरूपाय विष्णवे ।
शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोश्च हृदयं शिवः ॥
यथा शिवमयो विष्णुरेवं विष्णुमयःशिवः ।
यथान्तरं न पश्यामि तथा मे स्वस्तिरायुषि ॥
ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रो ब्रह्मण्यो मधुसूदनः ।
ब्रह्मण्यः पुण्डरीकाक्षो ब्रह्मण्यो विष्णुरच्युतः ॥
नमो ब्रह्मण्य देवाय गोब्राह्मणहिताय च ।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः ॥
क्षीरेण स्नापिते देवि चन्दनेन विलेपिते ।
बिल्वपत्रार्चिते देवि दुर्गेऽहं शरणागतः ॥
आसत्य लोकादाशेषादालोका लोक पर्वतात् ।
ये सन्ति ब्राह्मणा देवास्तेभ्यो नित्यं नमो नमः ॥
आकाशात् पतितं तोयं यथा गच्छति सागरं ।
सर्वदेव नमस्कारः केशवं प्रति गच्छति ॥
वासनाद् वासुदेवस्य वासितं ते जगत्त्रयम् ।
सर्वभूत निवासोऽसि वासुदेव नमोऽस्तु ते ॥

उत्तम इति मन्त्रस्य, वामदेवऋषिः । गायत्री देवता । अनुष्टुप् छन्दः । गायत्र्याः उद्वासने विनियोगः ॥

ॐ उत्तमे शिखरे जाते भूम्यां पर्वतमूर्धनि ।
ब्राह्मणेभ्योऽभ्यनुज्ञाता गच्छ देवि यथासुखम् ॥

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयतां पावमानी द्विजानाम् ।
आयुःपृथिव्यां द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्वा प्रयातुं ब्रह्मलोकम् ।।
नमोऽस्त्वनन्ताय सहस्रमूर्तये सहस्रपादाक्षि शिरोरुबाहवे ।
सहस्रनाम्ने पुरुषाय शाश्वते सहस्रकोटि युगधारिणे नमः ।

भद्रं न इति मन्त्रस्य विमद ऋषि: । अग्नि:परमात्मा देवता । एकपदा विराट् छन्द: । शान्तिपठने विनियोग: ।।

ॐ भद्रं नो अपिवातय मनः ।
ॐ भद्रं नो अपिवातय मनः ।
ॐ भद्रं नो अपिवातय मनः ।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

सर्वाऽरिष्ट: शान्तिरस्तु । समस्त सन्मंगलाऽवाप्तिरस्तु । चतु:सागर पर्यन्तं गो ब्राह्मणेभ्य: शुभं भवतु । (गोत्राऽभिवादनपूर्वकं स्वं द्विवारं नमस्कुर्यात्)

अनेन मयाकृत प्रात: सन्ध्यावन्दनेन भगवान् सर्वात्मक: श्री परमेश्वर: प्रीयताम् । कृत कर्मणि सम्भवित मन्त्र, तन्त्र, स्वर, वर्णादीनां न्यूनाऽतिरिक्त दोष परिहारार्थं विष्णुनामत्रयमन्त्र जपं करिष्ये । ॐ श्री अच्युताय नम: । ॐ श्री अनन्ताय नम: । ॐ श्री गोविन्दाय नम: ।। (इति त्रि:) ॐ श्री अच्युतानन्त गोविन्देभ्यो नम: ।

।। इति ऋग्वेदीय प्रातः सन्ध्यविधिः ।।

।। अथ ऋग्वेदीय मध्यान्ह सन्ध्याविधिः ।।

आचम्य- प्राणानायम्य -ममोऽपात्त समस्त दुरितक्षयद्वारा श्री परमेश्वरप्रीत्यर्थं मध्यान्ह सन्ध्यामुपासिष्ये । तदादौ आसनशुद्धिं भूतोत्सादनं च करिष्ये । इति संकल्प्य, आसनशुद्धिं भूतोत्सादनं च कृत्वा मार्जनं कुर्यात् ।

मार्जनम्

आपोहिष्ठेति तृचस्य । आंबरीषःसिन्धुद्वीपऋषिः। आपोदेवता । गायत्रीछन्दः। मार्जने विनियोगः।।

ॐ आपोहिष्ठा मयोभुवः। ॐ तानऊर्जे दधातन।
ॐ महेरणाय चक्षसे ।। ॐ योवःशिवतमो रसः।
ॐ तस्यभाजयते हनः। ॐ उशतीरिव मातरः।।
ॐ तस्मा अरं गमामवः। ॐ यस्यक्षयाय जिन्वथ ।
ॐ आपो जनयथा चनः।।

आपःपुनन्त्वित्यस्य नारायण याज्ञवल्क्य आपः पृथिवी ब्रह्मणस्पतिरष्टिः । मन्त्राचमने विनियोगः ।

ॐ आपःपुनन्तु पृथिवीं पृथिवी पूता पुनातु माम् ।
पुनन्तु ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्म पूता पुनातु माम् ।
यदुच्छिष्टमभोज्यं यद्वा दुश्चरितं मम ।
सर्वं पुनन्तु मामापोऽसतां च प्रतिग्रह९स्वाहा ।

इति जलं पीत्वा - आचम्य ।।

प्रातःसन्ध्यावत् द्वितीय मार्जनं अघमर्षणं च कृत्वा, आचम्य प्राणानायम्य - ममोपात्त समस्त दुरितक्षयद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं मध्यान्ह संध्यांग अर्घ्यप्रदानं करिष्ये ।

हंसःशुचिषदिति वामदेव सूर्यो जगती अर्घ्यप्रदाने विनियोगः ।।

ॐ हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद्वरसदृतसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं ॥

ब्रह्मावासये मध्यान्ह संध्यांगभूतं श्री सूर्याय इदमर्घ्यं समर्पयामि ।

आ कृष्णेनेति हिरण्यस्तूप सविता त्रिष्टुप् अर्घ्यप्रदाने विनियोग: ॥

ॐ आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च ।
हिरण्ययेन सविता रथेनाऽऽदेवो याति भुवनानि पश्यन् ॥

ब्रह्मावासये मध्यान्ह संध्यांगभूतं श्री सूर्याय इदमर्घ्यं समर्पयामि ।

गायत्र्या विश्वामित्र ऋषि:। सूर्यो देवता । गायत्री छंद:। अर्घ्यप्रदाने विनियोग:।

ॐ भूर्भुवःस्वः।
ॐ तत्सवितुर्वरेण्यंभर्गोदेवस्यधीमहि ।
धियोयोनःप्रचोदयात् ॥

ब्रह्मावासये मध्यान्ह संध्यांगभूत श्री सूर्याय इदमर्घ्यं समर्पयामि ॥

ॐ असावादित्यो ब्रह्म ॥ (इति प्रादक्षिण्येन आत्मानं परिशेचयेत्)

तर्पणम्

ॐ सन्ध्यां तर्पयामि । ॐ सावित्रीं तर्पयामि । ॐ रौद्रीं तर्पयामि । ॐ निमृर्जीं तर्पयामि ।

उपस्थान

तच्चक्षुरिति वसिष्ठ सविता पुरउष्णिक् उपस्थाने विनियोग: ।

ॐ तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत् ।

पश्यैम शरदः शतं जीवैम शरदः शतम् ॥

उदुत्यं-चित्रंदेवानां आदि सूक्तान् पठित्वा, शान्तिपठनं गोत्राभिवानं च कृत्वा उपविश्य,

आचम्य प्राणनायम्य - ममोपात्त समस्त दुरितक्षयद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं, मध्यान्ह संध्याङ्ग गायत्री जपं करिष्ये । तदङ्ग न्यासं करिष्ये ॥ तत्सवितु: विश्वामित्र सविता गायत्री जपे तदङ्ग न्यासे च विनियोग: । - न्यासं कृत्वा मुक्ताविद्रुमेति ध्यात्वा -

युवतीं युवादित्यमण्डलमध्यस्थां श्वेतवर्णां श्वेताम्बरानुलेपन स्रगाभरणां चतुर्वक्त्रां प्रतिवक्त्रं त्रिनेत्रां चन्द्रशेखरां त्रिशूलखड्ग खट्वांग डमर्वंक चतुर्भुजां वृषभासनारूढां रुद्रदैवत्यां यजर्वेदमुदाहरन्तीं भुवर्लोकाधिष्ठात्रीं सावित्रीनाम देवतां ध्यायामि ॥

इति ध्यात्वा, पंचोपचारै: संपूज्य, यथेष्टकामं जपं कुर्यात् । उत्तरन्यसं यथाविधिं कृत्वा कर्मसन्तर्पणं प्रायश्चित्तं च कुर्यात् ।

॥ इति मध्यान्ह सन्ध्यावन्दनम् ॥
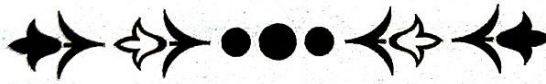
॥ ऋग्वेदीय सायं सन्ध्याविधिः ॥

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थाङ्गतोऽपि वा ।
यःस्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरःशुचिः ॥

आचमनम्

ॐ केशवाय स्वाहा । ॐ नारायणाय स्वाहा । ॐ माधवाय स्वाहा । ॐ गोविन्दाय नमः। ॐ विष्णवे नमः। ॐ मधुसूदनाय नमः। ॐ त्रिविक्रमाय नमः। ॐ वामनाय नमः। ॐ श्रीधराय नमः। ॐ हृषीकेशाय नमः। ॐ पद्मनाभाय नमः। ॐ दामोदराय नमः। ॐ संकर्षणाय नमः। ॐ वासुदेवाय नमः। ॐ प्रद्युम्नाय नमः। ॐ अनिरुद्धाय नमः। ॐ पुरुषोत्तमाय नमः। ॐ अधोक्षजाय नमः। ॐ नारसिंहाय नमः। ॐ अच्युताय नमः। ॐ जनार्दनाय नमः। ॐ उपेन्द्राय नमः। ॐ हरये नमः। ॐ श्रीकृष्णाय नमः॥

भस्मधारणं कृत्वा, पुनराचम्य ।

प्राणायामः

प्रणवस्य परब्रह्मऋषिः। परमात्मा देवता। दैवी गायत्रीच्छन्दः। सप्तानां व्याहृतीनां, विश्वामित्र जमदग्नि भरद्वाज गौतमात्रि वसिष्ठ कश्यपा ऋषयः। अग्निवाय्वादित्यबृहस्पतिवरुणेन्द्र विश्वेदेवादेवताः। गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहती पंक्तिस्त्रिष्टुब् जगत्यश्छंदांसि । गायत्र्याः, विश्वामित्र ऋषिः। सविता देवता । गायत्रीछंदः। गायत्रीशिरसः, प्रजापतिर्ऋषिः। ब्रह्माग्निवाय्वादित्या देवताः । यजुश्छंदः। प्राणायामे विनियोगः॥

ॐ भूः ॐ भुवः ॐ स्वः ॐ महः ॐ जनः ॐ तपः ॐ सत्यं
ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियोयोनःप्रचोदयात् ॥
ॐ आपोज्योतीरसोमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम् ॥

देशकालोच्चारः

शुभाभ्यां शुभे शोभने मुहूर्ते, अद्य ब्रह्मण: द्वितीये परार्धे, श्रीश्वेतवाराहकल्पे, वैवस्वत मन्वन्तरे, कलियुगे कलिप्रथमचरणे, भरतवर्षे भरतखण्डे, जम्बूद्वीपे दण्डकारण्येदेशे, गोदावर्या: दक्षिणेतीरे, शालिवाहन शके, बौद्धावतारे, रामक्षेत्रे, अस्मिन् वर्तमान व्यावहारिके, चान्द्रमानेन .... नाम संवत्सरे .....अयने .....ऋतौ .....मासे ....पक्षे ....तिथौ ....वासरे, शुभदिवस नक्षत्रे, शुभयोगे, शुभकरणे, एवं गुणविशेषेण विशिष्टायां शुभतिथौ...

संकल्पः

ममोपात्त समस्त दुरितक्षयद्वारा, श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं, सायं संध्यामुपासिष्ये ॥

तदादौ आसनशुद्धिं भूतोत्सादनं च करिष्ये ।

आसनविधिः

पृथ्वीति मन्त्रस्य, मेरुपृष्ठ ऋषि:। कूर्मो देवता । सुतल छन्द:। आसनशुध्यर्थे जपे विनियोग:॥

ॐ पृथ्वि त्वया धृता लोका देवि त्वं विष्णुना धृता ।
त्वं च धारय मां देवि पवित्रं कुरु चासनं ॥

अपसर्पन्त्वपक्रामन्त्वितिद्वयो: वामदेवो भूतान्यनुष्टुप्, भूतोत्सादने विनियोग:।

ॐ अपसर्पन्तु ते भूता ये भूता भूमिसंस्थिताः।
ये भूता विघ्नकर्तारस्ते नश्यन्तु शिवाज्ञया ॥
अपक्रामन्तु भूतानि पिशाचाः सर्वतो दिशम् ।
सर्वेषामविरोधेन ब्रह्मकर्म समारभे ॥

मार्जनम्

आपोहिष्ठेतितृचस्य । आंबरीषःसिन्धुद्वीपऋषिः। आपोदेवता । गायत्रीछन्दः। मार्जने विनियोगः॥

ॐ आपोहिष्ठा मयोभुवः। ॐ तान ऊर्जे दधातन। ॐ महेरणाय चक्षसे ॥
ॐ योवःशिवतमो रसः। ॐ तस्यभाजयते हनः। ॐ उशतीरिव मातरः॥
ॐ तस्मा अरं गमामवः। ॐ यस्यक्षयाय जिन्वथ । ॐ आपो जनयथा चनः॥

मन्त्राचमनम्

अग्निश्चेतिमन्त्रस्य । याज्ञवल्क्यउपनिषदऋषिः । अग्निमामन्यु मन्युपतिरहर्देवताः। प्रकृतिश्छन्दः। मन्त्राचमने विनियोगः॥

ॐ अग्निश्च मामन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः।
पापेभ्यो रक्षन्ताम् । यदन्हा पापमकार्षम् ।
मनसा वाचा हस्ताभ्याम् । पद्भ्यामुदरेण शिश्ना ।
अहस्तदवलुंपतु । यत्किंचदुरितंमयि ।
इदमहं माममृतयोनौ । सत्येज्योतिषि जुहोमिस्वाहा ॥

इति जलं पीत्वा - आचम्य ॥

द्वितीय मार्जनम्

प्रणवस्य परब्रह्मऋषिः। परमात्मा देवता । दैवीगायत्रीच्छन्दः । सप्तानां व्याहृतीनां परमेष्ठी प्रजापतिः प्रजापतिर्बृहती, गायत्र्याविश्वामित्रः सविता गायत्री। आपोहिष्ठेति नवर्चस्य सूक्तस्य आंबरीषः सिन्धुद्वीप आपोगायत्री । पञ्चमी वर्धमाना सप्तमी प्रतिष्ठा, अन्त्ये द्वे अनुष्टुभौ । गायत्रीशिरसः प्रजापतिर्ऋषिः। ब्रह्माग्निवाय्वादित्या देवताः। यजुश्छंदः। मार्जने विनियोगः॥

ॐ भूः। ॐ भुवः। ॐ स्वः। ॐ महः। ॐ जनः। ॐ तपः। ॐ सत्यं ।
ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्यधमहि । धियोयोनःप्रचोदयात् ॥

ॐ आपोहिष्ठा मयोभुवस्तान ऊर्जे दधातन । महेरणाय चक्षसे ॥
योवःशिवतमो रसस्तस्य भाजयते हनः। उशतीरिवमातरः॥
तस्माअरं गमामवो यस्यक्षयाय जिन्वथ । आपो जनयथा चनः॥
शं नो देवीरभिष्टय आपो भवंतु पीतये । शंयोरभिस्रवंतुनः॥
ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम् । अपो याचामि भेषजम् ॥
अप्सुमे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा । अग्निंच विश्वशंभुवम् ॥
आपःपृणीतभेषजं वरूथं तन्वे३ममं । ज्योक्च सूर्यं दृशे ॥
इदमापः प्रवहत यत्किंच दुरितं मयि ।
यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वा शेप उतानृतम् ॥
अपो अद्यान्वचारिषं रसेन समगस्महि ।
पयस्वानग्न आगहि तं मा संसृज वर्चसा ॥
ॐ आपोज्योती रसोमृतंब्रह्म भूर्भुवःस्वरोम्॥

अघमर्शणम्

ऋतंचेति तृचस्य माधुच्छन्दसोऽघमर्शण ऋषिः। भाववृत्तं देवता। अनुष्टुप् छन्दः। अघमर्शणे विनियोगः॥

ॐ ऋतंच सत्यंचाभीद्धात्तपसोध्यजायत । ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥ समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत । अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी ॥ सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् । दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥

इति वामनासापुटेन वायुं निरुध्य दक्षिण नासया पापपुरुषं निरस्य तज्जलं अनवलोकयन् वामभागे क्षिपेत् ॥

आचम्य ॥ प्राणनायम्य - ममोपात्त समस्त दुरितक्षयद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं सायं संध्यांग अर्घ्यप्रदानं करिष्ये ।

अर्घ्यप्रदानम्

प्रणवस्य परब्रह्मऋषिः। परमात्मा देवता । देवीगायत्रीच्छन्दः। समस्त व्याहृतीनां

प्रजापति: ऋषि:। प्रजापतिर्देवता। बृहती छंद:। गायत्र्या विश्वामित्र ऋषि:। सूर्यो देवता। गायत्री छंद:। अर्घ्यप्रदाने विनियोग:।

ॐ भूर्भुवः स्वः।
ॐ तत्सवितुर्वरेण्यंभर्गोदेवस्यधीमहि ।
धियोयोनःप्रचोदयात् ॥

ब्रह्मावासये सायं संध्यांगभूतं श्री सूर्याय इदमर्घ्यं समर्पयामि।। (इति त्रि:)

(कालातिक्रमे प्रायश्चित्तार्थं चतुर्थं)

ॐ असावादित्यो ब्रह्म ॥ (इति प्रादक्षिण्येन आत्मानं परिशेचयेत्)

तर्पणम्

ॐ सन्ध्यां तर्पयामि । ॐ सरस्वतीं तर्पयामि । ॐ वैष्णवीं तर्पयामि । ॐ निमृजीं तर्पयामि ।

आवाहनम्

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म । अग्निर्देवता ब्रह्मं इत्यार्षम् ।
गायत्रं छन्दं परमात्मं सरूपम् । सायुज्यं विनियोगम् ।
आयातु वरदा देवि अक्षरं ब्रह्मसम्मितम् ।
गायत्रीं छन्दसां मातेदं ब्रह्म जुषस्वमे ।
यदन्हात् कुरुते पापं तदन्हात् प्रतिमुच्यते ।
यद्रात्रियात् कुरुते पापं तद्रात्रियात् प्रतिमुच्यते ।
सर्ववर्णे महादेवि संध्याविद्ये सरस्वति ।
ओजोऽसि सहोऽसि बलमसि भ्राजोऽसि देवानां धामनामाऽसि विश्वमसि विश्वायुः सर्वमसि सर्वायुरभिभूरों गायत्रीमावाहयामि सावित्रीमावाहयामि सरस्वतीमावाहयामि छन्दर्षीनावाहयामि श्रियमावाहयामि गायत्र्या गायत्रीछन्दो विश्वामित्रऋषिः सवितादेवताऽग्निर्मुखं ब्रह्माशिरो विष्णुर्हृदयं रुद्रःशिखा पृथिवीयोनिः प्राणाऽपानव्यानोऽदानःसमाना सप्राणा श्वेतवर्णा

सांख्यायन सगोत्रा गायत्री चतुर्विंशत्यक्षरा त्रिपदाषट्कुक्षिः पंचशीर्षोऽपनयने विनियोगः ॥

आचम्य- प्राणानायम्य ।

ममोपात्त समस्त दुरितक्षयद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं, सायं संध्याङ्ग गायत्री जपं करिष्ये । तदङ्ग न्यासं करिष्ये ॥ तत्सवितुः विश्वामित्र सविता‌गायत्री जपे तदङ्ग न्यासे च विनियोगः।

ॐ तत्सवितुः - अंगुष्ठाभ्यां नमः ॥
ॐ वरेण्यं - तर्जनीभ्यां नमः ॥
ॐ भर्गो देवस्य - मध्यमाभ्यां नमः ॥
ॐ धीमहि - अनामिकाभ्यां नमः ॥
ॐ धियोयोनः - कनिष्ठिकाभ्यां नमः ॥
ॐ प्रचोदयात् - करतल-करपृष्ठाभ्यां नमः॥
ॐ तत्सवितुः - हृदयाय नमः ॥
ॐ वरेण्यं - शिरसे स्वाहा ॥
ॐ भर्गो देवस्य - शिखायै वषट् ॥
ॐ धीमहि - कवचाय हुं ॥
ॐ धियोयोनः - नेत्रत्रयाय वौषट् ॥
ॐ प्रचोदयात् - अस्त्राय फट् ॥
ॐ भूर्भुवःस्वरोम् - इति दिग्बंधः ॥

ध्यानम्

मुक्ता विद्रुम हेम नील धवलच्छायैर्मुखैस्त्रीक्षणैः ।
युक्तामिन्दुकला निबद्ध मुकुटां तत्त्वार्थवर्णात्मिकाम् ॥
गायत्रीं वरदाऽऽभयांकुशकशाः शुभ्रंकपालं गदाम् ।
शंखं चक्रमथारविन्दयुगुलं हस्तैर्वहन्तीं भजे ॥

वृद्धां वृद्धादित्यमण्डलमध्स्थां श्यामां श्यमाम्बरानुलेपन स्रगाभरणां एकवक्त्रां शंख चक्र गदांक चतुर्भुजां गरुडासनाऽरूढां विष्णुदैवत्यां

सामवेदमुदाहरन्तीं स्वर्लोकाधिष्ठात्रीं सरस्वतीनाम देवतां ध्यायामि ॥

लं - पृथिव्यत्मिकायै नमः - गन्धं कल्पयामि ।
हं - आकाशात्मिकायै नमः - पुष्पं कल्पयामि ।
यं - वाय्वात्मिकायै नमः - धूपं कल्पयामि ।
रं - अग्र्यात्मिकायै नमः - दीपं कल्पयामि ।
वं,अं - अमृतात्मिकायै नमः - नैवेद्यं कल्पयामि ।
पं - परमात्मिकायै नमः - पंचोपचार पूजां समर्पयामि ।

आगच्छ वरदे देवि जपे मे सन्निधौभव ।
गायन्तं त्रायसे यस्मत् गायत्रीत्वं ततःस्मृता ॥
यो देवः सवितास्माकं धियो धमाधिगोचरे ।
प्रेरयेत्तस्य तद्भर्गस्तद्वरेण्य मुपास्महे ॥

अस्यश्री शापविमोचन मन्त्रस्य, विश्वामित्रऋषिः । सूर्यो देवता । गायत्री छन्दः। गायत्र्याः शापविमोचनार्थे जपे विनियोगः ॥

ॐ ब्रह्मणे नमः । ॐ विश्वामित्राय नमः । ॐ वसिष्ठाय नमः ।
ॐ अहोदेवी महादेवी सन्ध्याविद्ये सरस्वति ।
अजरे अमरे चैव ब्रह्मयोनि नमोस्तु ते ।

ततः अष्टोत्तरशतं सहस्रं वा गायत्रीं जस्वा उत्तरन्यासं, ध्यानं, पंचोपचार पूजां च कुर्यात् ।

उपस्थानम्

यच्चिद्धित इति पंचानां मन्त्राणां, शुनःशेप ऋषिः । वरुणो देवता । गायत्री छन्दः । वरुणोपस्थाने विनियोगः ।

ॐ यच्चिद्धि ते विशौयथा प्र दैव वरुणव्रतम् । मिनीमसि द्यविद्यवि ॥
मा नौ वधार्य हत्नवैं जिहीळानस्यं रीरधः । मा हृणानस्यं मन्यवैं ॥
विमृळीकार्य ते मनौं रथीरश्वं न सन्दितम् । गीर्भिर्वरुण सीमहि ॥

परा हि मे विमंन्यवः पतंन्ति वस्यं इष्टये । वयो न वंसतीरुपं ॥
कदा क्षत्रश्रियं नरमा वरुंणं करामहे । मृळीकायोंऽरुचक्षसम् ॥

त्र्यम्बकमिति मैत्रावरुणौ वसिष्ठो रुद्रोऽनुष्टुप् । उपस्थाने विनियोगः ॥

ॐ त्र्यंम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धंनम् ।
उर्वारुकमिंव बन्धंनान् मृत्योर्मुक्षीय मामृतांत् ॥

जातवेदस इति मारीचः कश्यपो जातवेदाग्निस्त्रिष्टुप् । उपस्थाने विनियोगः ॥

ॐ जातवेंदसे सुनवाम सोमंमरातीयतो निदंहाति वेदंः ।
सनंः पर्षदति दुर्गाणि विश्वाँ नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः ॥

तच्छंयोः शंयुर्विश्वेदेवाः शक्वरी, शान्त्यर्थे जपे विनियोगः ।

ॐ तच्छंयोरावृंणीमहे गातुं यज्ञायं गातुं यज्ञपंतये ।
दैवीं स्वस्तिरंस्तु नः स्वस्तिर्मानुंषेभ्यः ।
ऊर्ध्वं जिंगातु भेषजम् शं नों अस्तु द्विपदे शं चतुंष्पदे ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिंः ॥

नमोब्रह्मण इति प्रजापतिर्विश्वेदेवास्त्रिष्टुप् । नमस्कारे विनियोगः ।

ॐ नमों ब्रह्मणे नमों अस्त्वग्नये नमंः पृथिव्यै नम ओषंधीभ्यः ।
नमों वाचे नमों वाचस्पतंये नमो विष्णंवे महते कंरोमि ॥

प्राच्यैदिशे - इन्द्राय नमः । आग्नेयै दिशे - अग्नयेनमः । दक्षिणायै दिशे - यमाय नमः। नैर्ऋत्यै दिशे - निर्ऋतये नमः । प्रतीच्यै दिशे - वरुणाय नमः । वायव्यै दिशे - वायवे नमः । उदीच्यैदिशे - कुबेराय नमः । ईशान्यै दिशे - ईश्वराय नमः । ऊर्ध्वायै दिशे - ब्रह्मणे नमः । अधरायैदिशे - अनन्ताय नमः । सन्ध्यायै नमः । सावित्र्यै नमः । गायत्र्यै नमः । सरस्वत्यै नमः । सर्वाभ्यो देवताभ्यो नमः । ऋषिभ्यो नमः । मुनिभ्यो नमः । गुरुभ्यो नमः । मातृभ्यो नमः । पितृभ्यो नमः । कामोकार्षीन् नमो नमः । मन्युरकार्षीन् नमो नमः ।

यां सदा सर्वभूतानि चराणि स्थावराणि च ।
सायं प्रातर्नमस्यन्ति सा मा सन्ध्याऽभिरक्षतु ॥
शिवाय विष्णुरूपाय शिवरूपाय विष्णवे ।
शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोश्च हृदयं शिवः ॥
यथा शिवमयो विष्णुरेवं विष्णुमयःशिवः ।
यथान्तरं न पश्यामि तथा मे स्वस्तिरायुषि ॥
ब्रम्हण्यो देवकीपुत्रो ब्रह्मण्यो मधुसूदनः ।
ब्रह्मण्यः पुण्डरीकाक्षो ब्रह्मण्यो विष्णुरच्युतः ॥
नमो ब्रह्मण्य देवाय गोब्राह्मण हिताय च ।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः ॥
क्षीरेण स्नापिते देवि चन्दनेन विलेपिते ।
बिल्वपत्रार्चिते देवि दुर्गेऽहं शरणागतः ॥
आसत्य लोकादाशेषादालोका लोक पर्वतात् ।
ये सन्ति ब्राह्मणा देवास्तेभ्यो नित्यं नमो नमः ॥
आकाशात् पतितं तोयं यथा गच्छति सागरं ।
सर्वदेव नमस्कारः केशवं प्रति गच्छति ॥
वासनाद् वासुदेवस्य वासितं ते जगत्त्रयम् ।
सर्वभूत निवासोऽसि वासुदेव नमोऽस्तु ते ॥

उत्तम इति मन्त्रस्य, वामदेवऋषिः । गायत्री देवता । अनुष्टुप् छन्दः । गायत्र्याः उद्वासने विनियोगः ॥

ॐ उत्तमे शिखरे जाते भूम्यां पर्वत मूर्धनि ।
ब्राह्मणेभ्योऽभ्यनुज्ञाता गच्छ देवि यथासुखम् ॥
स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयतां पावमानी द्विजानाम् ।
आयुःपृथिव्यां द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यंदत्वा प्रयातुं ब्रह्मलोकम् ॥
नमोऽस्त्वनन्ताय सहस्रमूर्तये सहस्रपादाक्षि शिरोरुबाहवे ।
सहस्रनाम्ने पुरुषाय शाश्वते सहस्रकोटि युगधाणिणे नमः ।

भद्रं न इति मन्त्रस्य, विमद ऋषिः । अग्निःपरमात्मा देवता । एकपदा विराट् छन्दः । शान्तिपठने विनियोगः ॥ ॐ भद्रं नो अपिंवातय मनः । ॐ भद्रं नो अपिंवातय मनः । ॐ भद्रं नो अपिंवातय मनः । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

सर्वारिष्ट: शान्तिरस्तु । समस्त सन्मंगलाऽवाप्तिरस्तु । चतु:सागर पर्यन्तं गो ब्राह्मणेभ्य: शुभं भवतु । (गोत्राऽभिवादनपूर्वकं स्वं द्विवारं नमस्कुर्यात्)

अनेन मयाकृत सायं सन्ध्यावन्दनेन भगवान् सर्वात्मक: श्री परमेश्वर: प्रीयताम् । कृत कर्मणि सम्भवित मन्त्र, तन्त्र, स्वर, वर्णादीनां न्यूनाऽतिरिक्त दोष परिहारार्थं विष्णुनामत्रयमन्त्र जपं करिष्ये । ॐ श्री अच्युताय नम: । ॐ श्री अनन्ताय नम: । ॐ श्री गोविन्दाय नम: ॥ (इति त्रि:)ॐ श्री अच्युतानन्त गोविन्देभ्यो नम: ।

॥ इति ऋग्वेदीय सायं सन्ध्यविधिः ॥

इस पुस्तक में

गायत्री मंत्र क्या है?

उस का जप कैसे करें?

स्त्रियों को मंत्र जपना निषिद्ध क्यों है?

वेदों में एवं शास्त्रों में क्या है?

देवताओं के पूजन क्यों?

भारतीय हिन्दू सनातन धर्म क्या है?

सोलह संस्कार कैसे और क्यों?

उपवीत और शिखा(चोटी) क्यों?

वास्तव में धर्म क्या है?

संध्यावंदन करने की सही विधि क्या है?

इत्यादि प्रश्नों के समाधान प्राप्त करने की दिशा में विशद रूप से अध्ययनात्मक चर्चा की गई है।

Rs. 100/- U.S. $10